भिक्षु विचार दर्शन

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रकाशक :
आदर्श साहित्य विभाग
जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं–341306
जिला : डीडवाना–कुचामन (राज.)
फोन नं. : (01581) 226080, 224671
ई–मेल : books@jvbharati.org

Books are available online at
https://books.jvbharati.org

ISBN : 978-81-938372-2-1

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

इक्कीसवां संस्करण : मई 2025 (500 प्रतियां)

मूल्य : दो सौ चालीस रुपये मात्र

मुद्रक : पायोराईट प्रिन्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर

BHIKSHU VICHAR DARSHAN - By Acharya Mahapragya ₹ 240/-

सत्रहवें संस्करण पर

जैसे-जैसे काल की लम्बाई बढ़ती है, वैसे-वैसे उसका आवरण सबको आवृत करता जाता है। किन्तु उन्हें अनावृत करता है, जिनका जीवन तपःपूत रहा है। आचार्य भिक्षु महान् तपस्वी थे। उनकी तपस्या का वलय इतना शक्तिशाली था कि उसके परमाणु हजारों वर्षों तक अपना प्रभाव सुरक्षित रख पाएंगे।

आचार्य भिक्षु द्वारा वो सत्य अभिव्यक्त हुआ, वह इतना चिरन्तन था कि उसे शाश्वत की तुला में तोला जा सकता है, वह इतना सामयिक था कि उसे वर्तमान की धारा का स्त्रोत कहा जा सकता है।

'भिक्षु विचार दर्शन' आचार्य भिक्षु के विचार-बिन्दुओं का एक लघु समाकलन है। यह मैंने उस समय लिखा जब आचार्य भिक्षु जनता की दृष्टि में सांप्रदायिक अधिक, दार्शनिक कम थे। वर्तमान संस्करण उस समय हो रहा है, जब आचार्य भिक्षु जनता की दृष्टि में दार्शनिक अधिक, सांप्रदायिक कम हैं।

जनता ने आचार्य भिक्षु के विचारों को समझने में रुचि ली है। इसका अर्थ है कि लोग व्यवहार के धरातल से उतरकर नैश्चयिक सत्य तक पहुंचना चाहते हैं। इसकी फलश्रुति है कि नवीन संस्करण जनता के हाथों में आ रहा है। इसमें कोई परिवर्तन या परिवर्धन नहीं किया गया है। वर्तमान की चिन्तनधारा ने आचार्य भिक्षु के विचारों को इतनी पुष्टि दी है कि दोनों चिन्तनधाराओं की तुलना की जा सकती है पर इसे मैं भविष्य के लिए छोड़ता हूं।

नया संस्करण नए परिवेश में जैन विश्व भारती, लाडनूं द्वारा प्रस्तुत हो रहा है। वह मनोभिराम होने के साथ-साथ नयनाभिराम भी होगा।

आचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

भूमिका	**9-34**
1. व्यक्तित्व की झांकी	**35-51**
1. समय की सूझ	35
2. श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय	36
3. रूढ़िवाद पर प्रहार	36
4. अंधविश्वास का मर्मोद्‍घाटन	37
5. अदम्य उत्साह	38
6. स्वतंत्र चिंतन	38
7. मोह के उस पार	39
8. विश्वास विफल नहीं होता	39
9. आलोचना	40
10. जागरण	40
11. आचार-निष्ठा	40
12. साधु कौन और असाधु कौन?	41
13. सिद्धांत और आचरण की एकता	42
14. अकिंचन की महिमा	43
15. जहां बुराई भलाई बनती है	43
16. क्षमा की सरिता में	44
17. सत्य का खोजी	45
18. जो मन को पढ़ सके	46
19. व्यवहार-कौशल	46
20. चमत्कार को नमस्कार	48

21. विवाद का अंत 48
22. जिसे अपने पर भरोसा है 49
23. पुरुषार्थ की गाथा 50
2. प्रतिध्वनि 52-72
1. धर्म-क्रांति के बीज 52
2. साधना के पथ पर 54
3. चिंतन की धारा 56
4. नैसर्गिक प्रतिभा 58
5. हेतुवाद के पथ पर 60
6. श्रद्धावाद के पथ पर 65
7. धर्म का व्यापक स्वरूप 67
8. आग्रह से दूर 70
9. कुशल पारखी 71
10. क्रांत वाणी 72
3. साध्य-साधन के विविध पहलू 76-93
1. जीवन और मृत्यु 76
2. आत्मौपम्य 78
3. संसार और मोक्ष 83
4. बल प्रयोग 84
5. हृदय -परिवर्तन 85
6. साध्य-साधनवाद 86
7. धन से धर्म नहीं 91
4. मोक्ष-धर्म का विशुद्ध रूप 94-119
1. चिंतन के निष्कर्ष 94
2. मिश्र धर्म 95
3. धर्म की अविभक्तता 97
4. अपना-अपना दृष्टिकोण 99
5. धर्म और पुण्य 106

6. प्रवृत्ति और निवृत्ति 107
7. दया 114
8. दान 115
5. क्षीर-नीर 120-137
1. सम्यग् दृष्टिकोण 120
2. अहिंसा का ध्येय 129
6. संघ-व्यवस्था 138-176
1. यह मार्ग कब तक चलेगा? 138
2. धर्म शासन 138
3. मर्यादा क्यों? 139
4. मर्यादा क्या? 140
5. मर्यादा का मूल्य 140
6. मर्यादा की पृष्ठभूमि 140
7. मर्यादा की उपेक्षा क्यों? 142
8. अनुशासन की भूमिका 143
9. अनुशासन के दो पक्ष 145
10. अनुशासन का उद्देश्य 149
11. विचार-स्वातंत्र्य का सम्मान 150
12. संघ-व्यवस्था 152
13. गण और गणी 155
14. निर्णायकता के केन्द्र 161
15. गण में कौन रहे? 163
16. गण में किसे रखा जाए? 164
17. पृथक् होते समय 166
18. गुटबंदी 168
19. क्या माना जाए? 169
20. दोष-परिमार्जन 170
21. विहार 174

7. अनुभूतियों के महान स्रोत **177-194**
1. कथनी और, करनी और 177
2. भेद का भुलावा 177
3. बहुमत नहीं, पवित्र श्रद्धा चाहिए 178
4. अनुशासन और संयमी 179
5. श्रद्धा दुर्लभ है 179
6. जैन-धर्म की वर्तमान दशा का चित्र 180
7. आकाश कैसे संधे? 183
8. क्रोध का आवेग 183
9. विनीत-अविनीत 183
10. गिरगिट के रंग 186
11. गुरु का प्रतिबिंब 187
12. उत्तरदायित्व की अवहेलना 188
13. चौधराई में खींचतान 189
14. तांबे पर चांदी का झोल 189
15. बुद्धि का बल 190
16. विवेक शक्ति 191
17. उछाला पत्थर तो गिरेगा ही 192
18. राग-द्वेष 193
19. विराम 193
परिशिष्ट **195-196**

भूमिका

काव्य-रचना, व्याकरण, न्यायशास्त्र, सिद्धांत, बीजशास्त्र, ज्योतिष-विद्या में निपुण अनेक आचार्य होते हैं, किंतु चारित्र में निपुण हों, वैसे आचार्य विरले ही होते हैं।[१]

आचार्य भिक्षु उन विरले आचार्यों में थे। उन्होंने चारित्र-शुद्धि को उतना महत्त्व दिया जितना देना चाहिए। ज्ञान, दर्शन, और चारित्र इन तीनों की आराधना ही मुक्ति का मार्ग है, परंतु परिस्थितिवश किसी एक को प्रधान और दूसरों को गौण करने की स्थिति आ जाती है। आचार्य भिक्षु ने ऐसा नहीं किया। वे जीवन-भर ज्ञान की आराधना में निरत रहे, उनका चारित्र-शुद्धि का घोष ज्ञान-शून्य नहीं था।

जैन परंपरा में चारित्रिक शिथिलता का पहला सूत्रपात आर्य सुहस्ती के समय में होता है। उसका कारण राज्याश्रय बना।

सम्राट सम्प्रति के संकेतानुसार सब लोग साधुओं को यथेष्ट भिक्षा देने लगे। भिक्षा की सुगमता देख महागिरि ने आर्य सुहस्ती से इस विषय में पूछा। यथेष्ट उत्तर न मिलने पर उन्होंने आचार्य सुहस्ती से संबंध-विच्छेद कर लिया।[२]

धर्मानंद कोसंबी ने बौद्ध धर्म के पतन का एक कारण राज्याश्रय माना है। श्रमण संस्कृति में जो दोष आए, उनका मुख्य कारण उसे राज्याश्रय मिलना रहा होगा। बुद्ध ने अपनी छोटी जमींदारी छोड़कर संन्यास लिया और

---

१. सूक्तिमुक्तावली, ५०

केचित्काव्यकलाकलापकुशलाः केचिच्च सल्लक्षणाः,
केचित्तर्कवितर्कतत्त्वनिपुणाः केचिच्च सैद्धान्तिकाः ।
केचिन्निस्तुषबीजशास्त्रनिरता ज्योतिर्विदो सूरयः,
चारित्रैकविलासवासभवनाः स्वल्पाः पुनः सूरयः ॥

२. बृहत्कल्पचूर्णि, उ. १

पैंतालीस वर्ष तक धर्म-प्रचार का काम किया। इस काल में राजाओं से उनका संबंध थोड़ा ही रहा।

बिंबसार राजा ने बुद्ध का बड़ा सम्मान किया और वेणुवन दान में दिया। जो कथाएं विनय-महावग्ग में हैं, वे बिल्कुल कल्पित जान पड़ती हैं। कारण, सुत्तपिटक में उनके लिए कोई आधार नहीं मिलता। बिंबसार राजा उदार था और वह सब पंथों के श्रमणों के साथ समान व्यवहार करता था। ऐसी स्थिति में उसने यदि बुद्ध तथा उनके संघ को अपने वेणुवन में रहने की अनुमति दी हो, तो इसमें कोई विशेषता नहीं।[१]

निशीथ सूत्र का पाठ भी शायद इसी दिशा की ओर संकेत करता है।[२]

पंडित बेचरदासजी का मत है—दीर्घ तपस्वी भगवान महावीर और उनके उत्तराधिकारी जंबू स्वामी तक ही जैन मुनियों का यथोपदिष्ट आचार रहा। उनके बाद बुद्ध के मध्यम मार्ग का उन पर प्रभाव पड़ने लगा। प्रारंभ में शायद जैनधर्म के प्रसार की भावना से ही वे बौद्ध साधुओं की तरह आचार की छूट लेते होंगे, परंतु बाद में उसका अभ्यास हो गया। इस प्रकार एक सदभिप्राय से भी उक्त शिथिलता बढ़ती गई, जो आगे चलकर चैत्यवास में परिणत हो गई।[३]

नाथूराम प्रेमी ने भी राजाओं द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठा को चारित्र-शिथिलता का एक कारण माना है। उन्होंने लिखा है—यह कहना तो कठिन है कि किस समय सबके सब साधु आगमोपदिष्ट आचार का पूर्णरूप से पालन करते होंगे, फिर भी प्रारंभ में दोनों ही शाखाओं के साधुओं में आगमोक्त आचार के पालन का अधिक से अधिक आग्रह था, परंतु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, साधु-संख्या बढ़ती गई, धनिकों और राजाओं द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा मिलती गई, त्यों-त्यों उनमें शिथिलता आती गई, जिससे दोनों ही संप्रदायों में शिथिलाचारी साधुओं की संख्या बढ़ती गई।[४]

---

१. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ. ६५-६६।

२. निशीथ उद्देशक ४ :
जे भिक्खू-१-३ रायं अत्तीकरेइ, अच्चीकरेइ, अत्थीकरेइ। ४-६ रायारक्खियं, ७-९ नगरारक्खियं, १०-१२ निगमारक्खियं, १३-१५ देसारक्खियं, १६-१८ सव्वारक्खियं अत्तीकरेइ, अच्चीकरेइ, अत्थीकरेइ।

३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ३५१.

४. वही, पृ. ३५१

उक्त कारणों के अतिरिक्त और भी अनेक कारण रहे हैं, जैसे–

1. दुर्भिक्ष

2. लोक-संग्रह

3. मंत्र-तंत्र, शक्ति-प्रयोग आदि।

वीर-निर्वाण 882 (विक्रम सं. 412) में चैत्यवास की स्थापना हुई।[1] चारित्रिक-शिथिलता का प्रारंभ पहले ही हो चुका था, किंतु उसकी एक व्यवस्थित स्थापना इस नवीं सदी में हुई। उस समय श्वेताम्बर मुनिगण दो भागों में विभक्त हो गए–चैत्यवासी और सुविहित या संविग्नपाक्षिक। हरिभद्र सूरि ने चैत्यवासियों के शिथिलाचार का वर्णन 'संबोध प्रकरण' में किया है-

'ये कुसाधु चैत्यों और मठों में रहते हैं, पूजा करने का आरंभ करते हैं, देवद्रव्य का उपभोग करते हैं, जिन-मंदिर और शालाओं का निर्माण करवाते हैं, रंग-बिरंगे, सुगंधित, धूपवासित वस्त्र पहनते हैं, बिना नाथ के बैलों के सदृश स्त्रियों के आगे गाते हैं, आर्यिकाओं द्वारा लाए गए पदार्थ खाते हैं और तरह-तरह के उपकरण रखते हैं।

जल, फल-फूल आदि सचित्त द्रव्यों का उपभोग करते हैं, दो-तीन बार भोजन करते हैं और तांबूल, लवंगादि भी खाते हैं।

ये मुहूर्त निकालते हैं, निमित्त बतलाते हैं, भभूत भी देते हैं। जीमनवारों में मिष्ट-आहार प्राप्त करते हैं, आहार के लिए खुशामद करते हैं और पूछने पर भी सत्य-धर्म नहीं बतलाते।

स्वयं भ्रष्ट होते हुए भी दूसरों से आलोचना-प्रतिक्रमण कराते हैं। स्नान करते हैं, तेल लगाते हैं, श्रृंगार करते हैं और इत्र-फुलेल का उपयोग करते हैं।

अपने हीनाचारी मृतक गुरुओं की दाह-भूमि पर स्तूप बनवाते हैं। स्त्रियों के समक्ष व्याख्यान देते हैं और स्त्रियां उनके गुणों के गीत गाती हैं।

सारी रात सोते हैं, क्रय-विक्रय करते हैं और प्रवचन के बहाने विकथाएं किया करते हैं।

चेला बनाने के लिए छोटे-छोटे बच्चों को खरीदते हैं, भोले लोगों को ठगते हैं और जिन-प्रतिमाओं को भी बेचते-खरीदते हैं।

उच्चाटन करते हैं और वैद्यक, यंत्र, मंत्र, ताबीज आदि में कुशल हैं।

---

१. धर्मसागर कृत पट्टावली-वीरात् ८८२ चैत्यस्थितिः।

ये सुविहित साधुओं के पास जाते हुए श्रावकों को रोकते हैं, शाप देने का भय दिखाते हैं, परस्पर विरोध रखते हैं और शिष्यों के लिए एक-दूसरे से लड़ते हैं।[1]

जो लोग इन भ्रष्ट आचार वालों को भी मुनि मानते थे, उनको लक्ष्य करके श्री हरिभद्र सूरि ने लिखा है–

कुछ नासमझ लोग कहते हैं–'यह भी तीर्थकरों का वेश है, इसे नमस्कार करना चाहिए।' अहो! धिक्कार हो इन्हें, मैं अपने सिरशूल की पुकार किसके आगे जाकर करूं?[2]

बौद्ध भिक्षुओं में चैत्यवास जैसी परंपरा का प्रारंभ सम्राट अशोक के समय से होता है। यद्यपि महात्मा बुद्ध अपने लिए बनाए गए विहार में रहते थे, किंतु अशोक से पहले भिक्षु-संघ की जो स्थिति थी, वह बाद में नहीं रही।

अशोक के बाद यह स्थिति बदली। बौद्ध धर्म राज्याश्रित बना। राज्याश्रय प्राप्त करने का प्रयत्न प्रथमतः बौद्धों ने किया या जैनों ने, यह नहीं कहा जा सकता। यदि यह सच माना जाए कि चन्द्रगुप्त मौर्य जैन था तो कहना पड़ेगा कि

१. संबोध प्रकरण :

चेइयमढाइवासं पूयारंभाइ निच्चवासित्तं।
देवाइदव्वभोगं जिणहरसालाइकरणं च॥६१॥
वत्थाइं विविहवण्णाइं अइसियसद्दाइं धूववासाइं।
परिहज्जइ जत्थ गणे तं गच्छं मूलगुणमुक्कं ॥४६॥
अन्नत्थियवसहा इव पुरओ गायंति जत्थ महिलाण।
जत्थ जयारमयारं भणंति आलं सयं दिंति ।४९॥
संनिहि महाकम्मं जलफलकुसुमाइ सव्व सच्चित्तं।
निच्चं दुतिवारं भोयण विगइलवंगाइ तंबोलं ॥५७॥
नरयगइहेउ जोइस निमित्तितेगिच्छमंतजोगाइं।
मिच्छत्तरायसेवं नीयाण वि पावसाहिज्जं ॥६३॥
मयकिच्च-जिणपूयापरूवणं मयधणाणां जिणदाणे।
गिहिपुरओ अंगाइपवयणकहणं धणट्ठाए ॥६८॥
वत्थोवगरणपत्ताइ दव्वं नियनिस्सएण संगहियं।
गिहि गेहंम्मि य जेसिं ते किणिणो जाण न हु मुणिणो ॥८१॥
गिहिपुरओ सज्झायं करंति अण्णोण्णमेव झूझंति।
सीसाइयाण कज्जे कलहविवायं उइरेंति ॥१६२॥
किं बहुणा मणिएणं बालाणं ते हवंति रमणिज्जा।
दक्खाणं पुण एए विराहगा छन्नपावदहा ॥१६३॥

२. संबोध प्रकरण :

बाला वयंति एवं वेसो तित्थंकराण एसो वि।
णमणिज्जो धिद्धी अहो सिरसूलं कस्स पुक्करिमो ।।६६॥

राज्याश्रय प्राप्त करने का प्रथम प्रयत्न जैनों ने किया, पर यह प्रश्न बहुत महत्त्व का नहीं है। इतना सच है कि अशोक के बाद बौद्ध और जैन दोनों ही परंपराओं ने राज्याश्रय प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

अशोक के शिलालेखों में इसका कोई आधार नहीं मिलता कि अशोक को बुद्धोपासक बनाने का किसी बौद्ध साधु ने प्रयत्न किया, पर इसमें संदेह नहीं कि बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बाद उसने अनेक विहार बनवाए और ऐसी व्यवस्था की कि हजारों भिक्षुओं का निर्वाह सुखपूर्वक होता रहे। दंतकथा तो यह है कि अशोक ने चौरासी हजार विहार बनवाए, पर इसमें तथ्य इतना ही जान पड़ता है कि अशोक का अनुकरण कर उसकी प्रजा ने और आस-पास के राजाओं ने हजारों विहार बनवाए और उनकी संख्या अस्सी-नब्बे हजार तक पहुंच गई।

राजा अशोक के इस कार्य से बौद्ध भिक्षु-संघ परिग्रह-संपन्न बना। भिक्षु की निजी संपत्ति तो केवल तीन चीवर और एक भिक्षा-पात्र मात्र थी, पर संघ के लिए रहने की एकाध जगह लेने की अनुमति बुद्ध-काल से ही थी। उस जगह का स्वामी गृहस्थ ही होता था और वही उसकी मरम्मत आदि कराता था। भिक्षु-संघ इन स्थानों में केवल चातुर्मास तक रहता था। चातुर्मास के अतिरिक्त यदि भिक्षु-संघ किसी स्थान पर अधिक दिन रह जाता तो लोग उसकी टीका-टिप्पणी करने लगते थे। अशोक के बाद यह परिस्थिति बिल्कुल बदल गई। बड़े-बड़े विहार बन गए और उनमें भिक्षु स्थायी रूप से रहने लगे।[१]

आचार्य भिक्षु ने (वि. 19वीं सदी में) अपने समय की स्थिति का जो चित्र खींचा है, वह (वि. 8-9वीं सदी के) हरिभद्र सूरि से बहुत भिन्न नहीं है। वे लिखते हैं–

1. आज के साधु अपने लिए बनाए हुए स्थानकों में रहते हैं।[२]
2. पुस्तक, पन्ने, उपाश्रय की खरीददारी करवाते हैं।[३]

---

१. भारतीय संस्कृति और इतिहास, पृ. ६६-६७।

२. आचार री चौपई : १-२:
आधाकर्मी थानक में रहे तो, ते पाडे चारित में भेद जी।
नशीत नें दशमें उदेशे, च्यार महीना रो छेद जी॥

३. वही, १.७
पुस्तक पातर उपाश्रादिक, लिवरावे ले ले नाम जी।
आछा भूंडा कहि मोल बतावे, ते करे ग्रहस्थ नों काम जी॥

3. दूसरों की निंदा में रत रहते हैं।[१]

4. गृहस्थ को ऐसी प्रतिज्ञा दिलाते हैं कि तू दीक्षा ले तो मेरे पास लेना, अन्य किसी के पास नहीं।[२]

5. चेलों को खरीदते हैं।[३]

6. पुस्तकों का प्रतिलेखन नहीं करते।[४]

7. गृहस्थ के साथ समाचार भेजते हैं।[५]

8. मर्यादा से अधिक वस्त्र रखते हैं।[६]

9. मर्यादा से अधिक सरस आहार लेते हैं।[७]

---

१. आचार री चौपई : १.१७ :
पर निंदा में राता माता, चित्त में नहीं संतोष जी।
वीर कह्यो दसमां अंग में, तिण वचन में तेरे दोष जी॥

२. आचार री चौपई : १.१८-१९ :
दिष्या ले तो मो आगे लीजे, ओर कनें दे पाल जी।
कुगुरु एहवो सूंस करावे, ए चोडें उंधी चाल जी॥
ए बंधा थी ममता लागे, गृहस्थ सूं भेलप थाय जी।
नशीत रे चोथे उद्देशे, डंड कह्यो जिणराय जी॥

३. वही, १.२२ :
चेला करण री चलगत उंधी, चाला बोहत चलाया जी।
साथे लीयां फिरे गृहस्थ ने, वले रोकड़ दाम दराय जी॥

४. वही, १.२५ :
विण पड़िलेह्या पुस्तक राखे, वले जमें जीवां रा जाल जी।
पड़े कुंथुआ उपजे माकण, जिण बांधी भांगी पाल जी॥

५. वही : १.२७-२८ :
गृहस्थ नें साथे कहे संदेसो, ते भेलो हुओ संभोग जी।
तिणनें साधु किम सरधी जे, लागो जोग नें रोग जी॥
समाचार विवरा सुध कहि कहि, सानी कर गृही बुलाय जी।
कागद लिखावे करे आमनां, परहथ दीए चलाय जी॥

६. वही, १.४१-४२ :
कपडा में लोपी मरजादा, लांबा पेना लगाय जी।
इधिको राखे दोयवड ओढे, वले बोले मुसावाय जी॥
उपगरण नें इधिका राखे, तिण मोटो कीयो अन्याय जी।
नसीत रें सोल में उद्देशे, चौमासी चारित जाय जी॥

७. वही, १.३८ :
सरस आहार ले विण मरजादा, तो बधे देही री लोथ जी।
काचमणी प्रकाश करे जिम, कुगुरु माया थोथ जी॥

10. जीमनवारों में गोचरी जाते हैं।[१]

11. चेली-चेला बनाने के लिए आतुर रहते हैं। इन्हें संप्रदाय चलाने से मतलब हैं, साधुत्व से नहीं।[२]

12. साधुओं के पास जाते हुए श्रावकों को ज्यों-त्यों रोकने का यत्न करते हैं। उनके कुटुंब में कलह का बीज बो देते हैं।[३]

13. आज वैराग्य घट रहा है, भेख बढ़ रहा है। हाथी का भार गधों पर लदा हुआ है। वे थक गए हैं और उन्होंने वह भार नीचे डाल दिया है।[४]

आचार-शिथिलता के विरुद्ध जैन परंपरा में समय-समय पर क्रांति होती रही है। आर्य सुहस्ती, आर्य महागिरि के सावधान करने पर तत्काल संभल गए।[५] चैत्यवास की परंपरा के विरुद्ध सुविहित-मार्गी साधु बराबर जूझते रहे। हरिभद्र सूरि ने 'संबोध प्रकरण' की रचना कर चैत्यवासियों के कार्यों का विरोध किया। जिनवल्लभ सूरि ने 'संघपट्टक' की रचना की और सुविहित-मार्ग को आगे बढ़ाने का यत्न किया। जिनपति सूरि ने संघपट्टक पर 3000 श्लोक-प्रमाण टीका लिखी, जिसमें चैत्यवास का स्वरूप विस्तार से बताया। चैत्यवास के विरूद्ध यह अभियान सतत चालू रहा।

विक्रम की सोलहवीं सदी में लोंकाशाह ने मूर्ति-पूजा के विरुद्ध एक विचार-क्रांति की। लोंकाशाह की 'हुंडी' में शिथिलाचार के प्रति विद्रोह की भावना झलक रही है।[६]

लोंकाशाह के अनुगामी जो शिष्य बने, वे चारित्र की आराधना में विशेष जागरूक रहें।

---

१. आचार री चौपई, १.२०,२६

जीमणवार में वेंहरण जाए, आ साधां री नहीं रीत जी।
वरज्यो आचारांग वृहत्कल्प में, उत्तराधेन नसीत जी॥
आलस नहीं आरा में जातां, वले बेठी पांत वसेष जी।
सरस आहार ल्यावे भर पातर, त्यां लज्या छोडी ले भेष जी॥

२. वही, ३.११ :

३. वही, ५.३३, ३४ :

केइ आवे सुध साधां कनें, तो मतीयां नें कहे आम।
थें वर्जी राखो घर रा मनुष्य नें, जावा मत दो ताम॥
कहे दरसण करवा दो मती, वले सुणवा मत दो वांण।
डराए नें ल्यावों म्हां कनें, ए कुगुर चरित पिछांण॥

४. वही : ६.२८ :

५. बृहत्कल्प चूर्णि, उद्देशक १, निशीथ चूर्णि उ.८।

६. १६६ बोल की हुंडी, शिशुहित शिक्षा, पृ. १५५।

वि. सं. 1582 में तपागच्छीय आनन्दविमलसूरि ने चारित्र-शिथिलता को दूर करने का प्रयत्न किया। वे स्वयं उग्र-विहारी बनें। उन्होंने 1583 में एक 35 सूत्रीय लेख-पत्र लिखा। उसके प्रमुख सूत्र इस प्रकार हैं–

1. विहार गुरु की आज्ञा से किया जाए।

2. वणिक के सिवाय दूसरों को दीक्षा न दी जाए।

3. परीक्षा कर गुरु के पास विधिपूर्वक दीक्षा दी जाए।

4. गृहस्थों से वेतन दिलाकर पंडितों के पास न पढ़ा जाए।

5. एक हजार श्लोक से अधिक 'लहियों' (प्रतिलिपि करने वालों) से न लिखाया जाए।[१]

आचार की शिथिलता और उसके विरुद्ध क्रांति यह क्रम दिगम्बर परंपरा में भी चलता रहा है। भट्टारकों की क्रिया चैत्यवासियों से मिलती-जुलती है। वे भी उग्रविहार को छोड़ मठवासी हो गए।

एक ही स्थान में स्थायी रूप से रहने लगे। उद्दिष्ट भोजन करने लगे। लोहे का कमंडलु रखना, कपड़े के जूते पहनना, सुखासन-पालकी पर चढ़ना आदि आदि प्रवृत्तियां इनमें बढ़ने लगी।[२] त्रिवर्णाचार, धर्मरसिक आदि ग्रंथ रचे गए, उनमें जैन मान्यताओं की निर्मम हत्या की गई।[३]

षट्प्राभृत की टीका में भट्टारक श्रुतसागर ने लोंकाशाह के अनुयायियों को जी-भरकर कोसा है और शासन-देवता की पूजा का निषेध करने वालों को

---

१. जैन साहित्य संशोधन, खण्ड ३, अंक ४, पृ. ३५९।

२. शतपदी (देखें जैन हितैषी, भाग ७, अंक ९)

३. (क) त्रिवर्णाचार, ८५-

जपो होमस्तथा दानं, स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
जिनपूजा श्रुताख्यानं, न कुर्यात् तिलकं बिना॥

(ख) धर्मरसिक, ३३ :

व्रतच्युतान्त्यजातीनां, दर्शने भाषणे श्रुते।
क्षुतेऽधोवातगमने, जृम्भणे जपमुत्सृजेत्॥

(ग) धर्मरसिक, ५९ :

अन्त्यजैः खनिताः कूपा, वापी पुष्करिणी सरः।
तेषां जलं न तु ग्राह्यं, स्नानपानाय च क्वचित्॥

चार्वाक, नास्तिक कहकर समर्थ आस्तिकों को कहा है कि वे उन्हें ताड़ना दें। उसमें उन्हें पाप नहीं होगा।[१]

इससे भट्टारक-पंथ की प्रतिक्रिया हुई। फलस्वरूप 'तेरहपंथ' का उदय हुआ। विक्रम की सत्रहवीं सदी (1683) में पंडित बनारसीदास जी ने भट्टारक विरोधी मार्ग की नींव डाली। प्रारंभ में इसका नाम वाराणसीय[२] या बनारसी मत जैसा रहा, किंतु आगे चलकर इसका नाम तेरहपंथ हो गया।

पं. नाथूराम प्रेमी के अनुसार यह नाम श्वेताम्बर तेरहपंथ के उदय के पश्चात् प्रयुक्त होने लगा। जब तेरहपंथ नाम प्रचलित हो गया, तब भट्टारकों का पुराना मार्ग बीसपंथ कहलाने लगा, परंतु यह एक समस्या ही है कि ये नाम कैसे पड़ें और इन नामों का मूल क्या है? इनकी व्युत्पत्ति बतलाने वाले कई प्रवाद प्रचलित हैं, जैसे 'तेरह प्रकार के चारित्र को जो पाले' वह तेरापंथी और 'हे भगवान यह तेरापंथ है' आदि, उनमें कोई तथ्य मालूम नहीं होता और न उनसे वास्तविकता पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

बहुत संभव है कि ढूंढकों (स्थानकवासियों) में से निकले हुए तेरहपंथियों के जैसा निंदित बतलाने के लिए वे लोग जो भट्टारकों को अपना गुरु मानते थे तथा इनसे द्वेष रखते थे, इसके अनुयायियों को तेरापंथी कहने लगे हों और धीरे-धीरे उनका दिया हुआ यह कच्चा 'टाइटल' पक्का हो गया हो, साथ ही वे स्वयं इनसे बड़े बीसपंथी कहलाने लगे हों। यह अनुमान इसलिए भी ठीक जान पड़ता है कि इधर के लगभग सौ-डेढ़ सौ वर्ष के ही साहित्य में तेरहपंथ के उल्लेख मिलते हैं, पहले के नहीं।[३]

श्वेताम्बर परंपरा में तेरापंथ की स्थापना वि. संवत् 1817 (आषाढ़ी पूर्णिमा) से हुई। इसके प्रवर्तक थे आचार्य भिक्षु। वे संवत 1808 में स्थानकवासी संप्रदाय (जिसका आरंभ लोंकाशाह की परंपरा में हुआ) में दीक्षित हुए और 1816 में उससे संबंध-विच्छेद कर पृथक् हुए। उनकी दृष्टि में उस समय वह संप्रदाय चारित्रिक शिथिलता से आक्रांत हो गया था। आचार्य भिक्षु ने

---

१. षट् प्राभृत-मोक्ष प्राभृत टीका :
"उभय भ्रष्टा वेदितव्याः ते लौंकाः" (पृ.३०५) "लौंकाः पातकिनः" (पृ.३०५) "लौंकास्तु नरकादौ पतन्ति" (पृ.३०६) "ते पापमूर्तयः श्वेताम्बरामासा लोकापकारकाय नामानो लौंकाः (पृ. ३६६)" "शासन देवता न पूजनीयाः.... इत्यादि ये उत्सूत्रं मन्यते ते मिथ्यादृष्टयश्चार्वाका नास्तिकास्ते। यदि कदाग्रहं न मुञ्चन्ति तदा समर्थैरास्तिकैरुपानद्भिः गूयलिप्ताभिर्मुखे ताडनीयाः, तत्र पापं नास्ति!"

२. युक्ति प्रबोध, १८।

३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ३६६-६७।

आगमों का अध्ययन किया, तब उन्हें लगा कि आज हमारा आचरण सर्वथा आगमानुमोदित नहीं है और सिद्धांत-पक्ष भी विपरीत है।[१] उनका अंतर्द्वंद्व अभी प्रारंभिक दशा में था। राजनगर (मेवाड़) के श्रावकों ने उसमें तीव्रता ला दी। आचार्य रुघनाथजी ने भिक्षु को भेजा था उन श्रावकों को समझाने के लिए और वे ले आए उनकी समझ को अपनी समझ का रूप देकर। भिक्षु की प्रतिभा पर आचार्य और श्रावक दोनों को भरोसा था।

आचार्य रुघनाथजी ने सोचा कि राजनगर के श्रावक साधुओं के आचार को लेकर संदिग्ध हैं। उन्हें हर कोई नहीं समझा सकता। भिक्षु सूक्ष्म प्रतिभा का धनी है, वही इन्हें समझा सकता है। आचार्य ने सारी बात समझाकर राजनगर चातुर्मास के लिए भिक्षु को भेजा।

भिक्षु केवल शास्त्रज्ञ ही नहीं थे, व्यवहार-पटुता भी उनकी बेजोड़ थी। उन्होंने श्रावकों की मानसिक स्थिति का अध्ययन किया। श्रावक निर्दोष थे। वे साधुओं को इसलिए वंदना नहीं करते थे कि साधु चारित्रिक-शिथिलता का सेवन कर रहे थे। श्रावक भिक्षु की प्रतिभा और वैराग्य पर भरोसा करते थे। प्रतिभा का संबंध मस्तिष्क से है और वैराग्य का हृदय से। विश्वास हृदय से जुड़ता है तभी उसका संबंध मस्तिष्क से होता है। भिक्षु का हृदय भी स्वच्छ था और मस्तिष्क भी स्वच्छ, इसलिए श्रावकों ने उनके परामर्श की अवहेलना नहीं की और वे साधुओं को वंदना करने लगे,[२] किंतु विश्वास का बोझ सिर पर लेना कोई कम बात नहीं है। भिक्षु उस बोझ से नत हो गए। उनका दायित्व बढ़ गया। उन्होंने प्रत्येक आगम को दो-दो बार पढ़ा। आगम की विधियों और साधु-समाज के व्यवहारों में उन्हें स्पष्ट अंतर दीखा और वे इस खाई को पाटने के लिए आगे बढ़े।[३] चातुर्मास समाप्त हुआ। आचार्य के पास आए। परिस्थिति का संकेत आचार्य तक पहुंच चुका था।

---

१. भिक्षु जश रसायण २, दोहा ६ :
सरधा पिण साची नहीं, असल नहीं आचार।
इण विध करे आलोचना, पिण द्रव्य गुरु सूं अति प्यार॥

२. भिक्षु जश रसायण, २.१२ :
आप वैरागी बुद्धिवन्त छो, आपरी परतीत।
तिण कारण वन्दणा करां, आप जगत में बदीत॥

३. वही, ३, दोहा ५-६ :
ओ दूधारो खांडो अछे, एहवी मन में धार।
दोय बार सूत्रां भणी, बांच्या धर अति प्यार॥
सूत्र विविध निर्णयकारी, गाढी मन में धार।
सम्यक् चारित बिहुं नहीं, एहवो कियो विचार॥

भिक्षु के साथ टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी और भारीमलजी–ये चार साधु थे। वापस आते समय ये दो भागों में विभक्त होकर आए। भिक्षु ने वीरभाणजी से कहा–'पहले पहुंच जाओ तो राजनगर की स्थिति की आचार्य के पास चर्चा न करना। मैं ही समुचित ढंग से उनके सम्मुख प्रस्तुत करूंगा,' किंतु वीरभाणजी बात को पचा नहीं सके। वे पहले पहुंचे और राजनगर की घटना को भी आचार्य तक पहुंचा दिया। भिक्षु ने आचार्य के पास सारा घटना-चक्र बदला हुआ पाया। उन्होंने परिस्थिति को संभाला। आचार्य को प्रसन्न कर सारी स्थिति उनके सामने रखी। कोई संतोषजनक समाधान नहीं मिला। भिक्षु ने उनसे संबंध-विच्छेद कर लिया।

जैन परंपरा में एक नया संप्रदाय जन्म लेगा, यह कल्पना न आचार्य रुघनाथजी को थी और न स्वयं भिक्षु को ही। यह कोई गुरुत्व और शिष्यत्व का विवाद नहीं था।[१] भिक्षु के मन में रुघनाथजी को गुरु और स्वयं को उनका शिष्य मानने की भावना नहीं होती तो वे दूसरा संप्रदाय खड़ा करने की बात रखते, किंतु वे ऐसा क्यों सोचते? आचार्य रुघनाथजी से उन्हें बहुत स्नेह था। आचार्य रुघनाथजी एक बड़े संप्रदाय के महान नेता थे। उनके उत्तराधिकारी के रूप में भिक्षु का नाम था।[२] फिर वे क्यों उनसे पृथक् होते? भिक्षु के मन में कोई अन्य भावना नहीं थी। वे केवल चारित्र-शुद्धि के लिए छटपटा रहे थे।[३] यही था उनका ध्येय और इसी की पूर्ति के लिए वे अपने आचार्य से खेद के साथ पृथक् हुए।

जैन परंपरा में अनेक संप्रदाय हैं, पर उनमें तात्त्विक मतभेद बहुत कम हैं। अधिकांश संप्रदाय आचार-विषयक मान्यताओं को लेकर स्थापित हुए हैं। देश-काल की परिस्थिति से उत्पन्न विचार, आगमिक सूत्रों की व्याख्या

१. भिक्षु जश रसायण, ४.१० :
जो थे मानो हो सूत्र नीं बात, तो थेइज, म्हांरा नाथ।
नहिंतर ठीक लागै नहीं॥

२. भिक्षु जश रसायण, २, दोहा ६ :
पटधारक भिक्खु प्रगट, हद आपस में हेत।
इतलै कुण विरतन्त हुवो, सुणज्यो सहू सचेत॥

३. वही ४, ११,१३ :
म्हें घर छोड्यो हो आतम तारण काम, और नहीं परिणाम।
तिण सूं बार बार कहूं आपनें॥
आप मानों हो स्वामी सूत्रां नी बात, छोड़ देवा पक्षपात।
इकदिन परभव जावणो॥
पूजा-प्रशंसा हो लही अनन्ती बार, दुर्लभ श्रद्धा श्रीकार।
निर्णय करो आप एहनो॥

में थोड़ा-थोड़ा मतभेद, रुचिभेद आदि-आदि कारण ही जैन साधु-संघ को अनेक भागों में विभक्त किए हुए हैं। राजनगर के श्रावकों ने जो प्रश्न उपस्थित किए, वे भी आचार-विषयक थे। उन्होंने कहा–'वर्तमान साधु उद्दिष्ट (साधु के निमित्त बनाया हुआ) आहार लेते हैं, उद्दिष्ट स्थानकों में रहते हैं, वस्त्र-पात्र संबंधी मर्यादाओं का पालन नहीं करते, बिना आज्ञा जिस-किसी को मूंड लेते हैं आदि-आदि आचरण साधुत्व के प्रतिकूल हैं।[१] भिक्षु मान्यता और आचार दोनों में त्रुटि अनुभव कर रहे थे, इसलिए वे रुघनाथजी से अलग हो गए।

वस्त्र-पात्र के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपरा में मतभेद हैं, किंतु उद्दिष्ट आहार आदि के विषय में कोई मतभेद नहीं हैं।[२] सैद्धांतिक दृष्टि से कोई भी जैन मुनि यह नहीं कह सकता कि उद्दिष्ट आहार लिया जा सकता है, उद्दिष्ट स्थानकों में रहा जा सकता है, किंतु उस समय एक मानसिक परिवर्तन अवश्य हो गया था–'अभी दुःषम समय है, पाचवां आरा है, कलिकाल है। इस समय साधु के कठोर नियमों को नहीं निभाया जा सकता।' इस धारणा ने साधु-संघ को शिथिलता की ओर मोड़ दिया।[३]

यह एक जटिल पहेली है कि किसे चारित्र-शुद्धि कहा जाए और किसे चारित्र-शिथिलता? क्योंकि आगमिक व्याख्याओं और सूक्ष्म रहस्यों का पार पाना जलधि-तरण से भी अधिक श्रमसाध्य है।

1. एक आचार्य ने एक कार्य को शिथिलाचार माना है, दूसरे ने नहीं माना। एक आचार्य ने एक प्रवृत्ति का खंडन किया, दूसरे ने उसका समर्थन किया। हरिभद्र सूरि ने साधु को तीसरे प्रहर के अतिरिक्त गोचरी करने और

१. वही, २, ८-९ :
आधाकरमी-थानक आदर्‌या, मोल लिया प्रसिद्धि।
उपधि वस्त्र पात्र अधिक ही, आ पिण थे थाप कीधी॥
जांण किंवाड जड़ो सदा, इत्यादिक अवलोक।
म्हें वंदना करां किण रीत सूं, थे तो थाप्या दोष॥

२. दशवैकालिक १०/४ः मूलाचार ६/३।

३. भिक्षु जश रसायण ५ दोहा १५-१६
रुघनाथजी इसड़ी कहे रे, सांभल भिक्खू बात।
पूरो साधपणो नहीं पले रे, दुखमकाल साख्यात॥
भिक्खु कहे इम भाखियो रे, सूत्र आचारांग मांय।
ढीला भागल इम भाखसी रे, हिवडां शुद्ध न चलाय॥

बार-बार आहार करने को शिथिलाचार बताया है, किंतु आचार्य भिक्षु ने इसे अस्वीकार किया है।[१]

2. अनेक आचार्यों ने चौदह उपकरणों से अधिक उपकरण रखना साधु के लिए निषिद्ध बतलाया है, किंतु आचार्य भिक्षु ने इसका खंडन किया है।[२]

3. कई आचार्यों की मान्यता रही है कि साधु न लिखे और न चित्र बनाए। आचार्य भिक्षु ने इसका खंडन किया है।[३]

4. हरिभद्र सूरि ने साध्वियों द्वारा लाया गया आहार लेने को शिथिलाचार कहा है, किंतु आचार्य भिक्षु ने इसे शिथिलाचार नहीं माना।

5. कई आचार्यों ने साधुओं के लिए कविता करने का निषेध बतलाया है, आचार्य भिक्षु ने इसे मान्य नहीं किया।[४]

कहीं-कहीं रूढ़ियों में कठोर आचार और कठोर आचार में रूढ़ि की कल्पना हो जाती है। यद्यपि सामयिक विधि-निषेधों के आधार पर चारित्र की शुद्धि या शिथिलता का ऐकांतिक निर्णय करना कठिन हो जाता है, फिर भी कुछ विषय ऐसे स्पष्ट होते हैं कि उनके आधार पर चारित्र की शुद्धि या शिथिलता का निर्णय करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। आचार्य भिक्षु ने चारित्रिक-शिथिलता के जो विषय प्रस्तुत किए हैं, उनमें कुछ विषय ऐसे हैं जो प्रचुर मात्रा में व्याप्त थे और जिनके कारण तत्कालीन साधु-समाज को चारित्र-शिथिलता से आक्रांत कहा जा सकता है। कुछ ऐसे हैं, जो किसी-किसी साधु में मिलते होंगे। भिक्षु का दिशा-सूचक यंत्र आगम थे। उन्हीं के सहारे से उन्होंने शुद्धाचार-अनाचार का निर्णय किया। उनका कहना था–'आगम और जिन-आज्ञा ही मेरे लिए प्रमाण हैं। वे ही मेरे आधार हैं।' उनके सब निर्णय इसी कसौटी पर कसे हुए थे। इसीलिए अपने आप में शुद्ध थे।

तेरापंथ की स्थापना युग की मांग थी। आचार्य भिक्षु के नेतृत्व में तेरह साधु एकत्रित हुए। किसी कवि ने नाम रख दिया–तेरापंथ।[५] यह संवाद आचार्य

---

१. आचार री चौपई : १८/२

२. जिनाग्या री चौपई ५/२८

३. वही ५/४०

४. श्रद्धा निर्णय री चौपई १/२, ८, ६

५. भिक्षु जश रसायण, पृष्ठ २३ :
साध साध रो गिलो करै, ते तो आप-आपरो मंत।
सुणजो रे शहर रा लोकां, ए तेरापंथी तंत॥

भिक्षु तक पहुंचा। उन्होंने उसे–'हे प्रभो! यह तेरापंथ' इस रूप में स्वीकार किया और उसकी सैद्धांतिक व्याख्या यह की–'जहां पांच महाव्रत–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, पांच समिति–ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप, उत्सर्ग और तीन गुप्ति–मनगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति–ये तेरह (राजस्थान में तेरा) नियम पाले जाते हैं–'वह तेरापंथ है।'[१]

आचार्य भिक्षु ने 181 बोल की हुण्डी में वर्तमान साधु-समाज की आचार-शिथिलता का पूरा विवरण प्रस्तुत किया। उस समय निम्न मान्यताएं और क्रिया-कलाप प्रचलित थे–

1. भगवान महावीर का भेख भी वंदनीय है।

2. इस समय शुद्ध साधुपन नहीं पाला जा सकता।

3. व्रत और अव्रत को पृथक्-पृथक् न मानना।

4. मिश्र धर्म की मान्यता–एक ही क्रिया में पुण्य और पाप दोनों का स्वीकार।

5. लौकिक दया और दान को लोकोत्तर दया और दान से पृथक् न मानना।

6. जिस कार्य के लिए भगवान महावीर की आज्ञा नहीं है, वहां धर्म मानना।

7. दोषपूर्ण आचार की स्थापना करना।

8. स्थापित स्थानक में रहना।

9. उद्दिष्ट आहार लेना।

10. साधु के निमित्त खरीदी वस्तुओं का उपयोग करना।

11. नित्य-प्रति एक घर से भोजन लेना।

12. वस्त्र, पात्र, पुस्तक का प्रतिलेखन न करना।

---

१. भिक्षु जश रसायण, ७, दोहा ६-७ :
लोक कहै तेरापंथी, भिक्खु सवली भावै हो।
हे प्रभु! ओ पंथ है, और दाय न आवै हो॥
मन भरम मिटावै हो, सो ही तेरापंथ पावै हो।
पंच महाव्रत पालतां, शुद्धि सुमति सुहावै हो॥
तीन गुप्त तीखो तरे, भल आतम भावै हो।
चित्त सूं तेरा ही चाहवै हो॥

13. अभिभावकों की आज्ञा प्राप्त किए बिना गृहस्थ को दीक्षित करना।

14. मर्यादा से अधिक वस्त्र-पात्र रखना।

15. गृहस्थों से अपने लिए प्रतियां लिखवाना।[1]

इन्हीं विचारों और आचरणों की प्रतिक्रिया हुई और उसी का परिणाम तेरापंथ है।[2]

तेरापंथ का प्रारंभ वि. सं. 1817 आषाढ़ी पूर्णिमा से होता है। उसी दिन आचार्य भिक्षु ने नए सिरे से व्रत ग्रहण किए।[3] इस प्रकार उनकी दीक्षा के साथ ही तेरापंथ का सहज प्रवर्तन हुआ।

महापुरुष का अंतःकरण परमार्थ से परिपूर्ण होता है। वे जैसे अपना हित चाहते हैं, वैसे दूसरों का भी। आचार्य भिक्षु को जो श्रेयोमार्ग मिला, उसे उन्होंने दूसरों को भी दिखाना चाहा, पर पुराने का जो विश्वास होता है, वह सहसा नए का नहीं होता। नई स्थिति में सर्वप्रथम विरोध का सामना करना पड़ता है। आचार्य भिक्षु का तेरापंथ नया था। उन्होंने जो विचार प्रस्तुत किए, वे नए थे, इसलिए उनका विरोध होने लगा। प्रतिदिन बढ़ते विरोध ने आचार्य भिक्षु की कल्पना को यह रूप दिया—'मेरे साथ में कौन साधु होगा और कौन श्रावक-श्राविका इसकी चिंता नहीं? मुझे तो आत्मा का कल्याण करना है। दूसरे लोग

१. १८१ बोल की हुंडी, बोल १२६।

२. भिक्षु जश रसायण : २, दोहा १-५

अल्प दिवस रे आंतरै, सिख्या सूत्र सिद्धान्त।
तीव्र बुद्धि भिक्खु तणीः सुखदाई शोभन्त॥
विविध समय-रस बांचता, बारूं कियो विचार।
अरिहन्त वचन आलोचतां, ए असल नहीं अणगार॥
यां थापिता थानक आदर्‍या, आधाकर्मी अजोग।
मोल लियां मांहें रहे, नित्य पिण्ड लिए निरोग॥
पडिलेह्यां विण रहै पड्या, पोथ्यां रा गज्ज पेख।
विण आज्ञा दीक्षा दीये, विवेक-विकल विशेष॥
उपधि वस्त्र पात्र अधिक, मर्यादा उपरन्त।
दोष थापै जाण-जाण ने, तिण सूं ए नहीं सन्त॥

३. वही, ८, ३-४ :

संवत् अठारे सतरे समै, मु. पंचांग लेखे पिछाण हो।
आषाढ सुदी पूनम दिने, मु. केलवे दीक्षा-कल्याण हो॥
अरिहन्त नी लेइ आगन्या, मु. पचख्या पाप अठार हो।
सिद्ध साखे करी स्वाम जी, मु. लीधो संजम भार हो॥

मुझे न सुनना चाहें तो मुझे अपने कल्याण में ही शक्ति लगाना है।[1]

कल्पना को मूर्तरूप मिला। आचार्य भिक्षु ने एकांतर तप (एक दिन उपवास और एक दिन आहार) और जंगल में आतापना लेना प्रारंभ कर दिया।[2] लंबे समय तक यह क्रम चला। एक दिन मुनि थिरपालजी और फतेहचंदजी दोनों साधु आए। उन्होंने प्रार्थना की–'गुरुदेव! तपस्या का वरदान हमें दें और आप जनता को प्रतिबोध दें।[3] यह तेरापंथ के विकास का पहला स्वर था। आचार्य भिक्षु ने उनकी प्रार्थना को सुना और फिर एक बार जनता को प्रतिबोध देना शुरू किया। यह प्रयत्न सफल हुआ। लोगों ने आचार्य भिक्षु को सुना।

अब क्रमशः तेरापंथ का वटवृक्ष विस्तार पाने लगा।

आचार्य भिक्षु ने परिवर्तित स्थिति को देख ग्रंथ-निर्माण का कार्य शुरू किया।[4]

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका–चारों तीर्थ तेरापंथ को आधार मानकर चलने लगे। सारा कार्य स्थिर भाव में परिणत हुआ, तब आचार्य भिक्षु ने वि.सं. 1832 में संघ-व्यवस्था की ओर ध्यान दिया और पहला लेख पत्र लिखा। इस प्रकार आचार-शुद्धि के अभियान की दृष्टि से तेरापंथ का उदय वि.सं. 1817

---

१. भिक्षु जश रसायण : १०, दोहा ६-७
जब भिक्खु मन जाणियो,कर तप करूं किल्याण।
मग नहीं दीखे चालतो, अति घन लोग अजाण॥
घर छोड़ी मुझ गण मझे, संजम कुण ले सोय?
श्रावक ने बलि श्राविका, हुंता न दीसै कोय॥

२. वही, १०, दोहा ८-९
एहवी करै आलोचना, एकन्तर अवधार।
आतापन बलि आदरी, सन्ता साथे सार॥
चौविहार उपवास चित्त, उपधि ग्रही सहु संत।
आतापन लेवन मझे, तप कर तन तावंत॥

३. वही, १०, ६-७ :
थे बुद्धिमान थारी थिर बुद्धि भली, उत्पत्तिया अधिकाय हो।
समझावों बहु जीव सैणां भणी, निर्मल बतावी न्याय हो॥
तपस्या करां म्हे आतम तारणी, अधिक पोंच नहीं ओर हो।
आप तरो नै तारो अवर ने, जाझो बुद्धि नो जोर हो॥

४. भिक्षु जश रसायण १०, १० :
प्रगट मेवाड़ में पूज पधारिया, जुगत आचार नी जोड़ हो।
अनुकम्पा दया दान रे ऊपरे, जोड़ा करी धर कोड़ हो॥

में हुआ। प्रचार की दृष्टि से उसका उदय मुनि-युगल की प्रार्थना के साथ-साथ हुआ। उसका विस्तार ग्रंथ-निर्माण के साथ-साथ हुआ और उसका संगठित रूप लेख-पत्र के साथ वि.सं. 1832 में हुआ।

साधन बीज है और साध्य वृक्ष, इसलिए जो संबंध बीज और वृक्ष में है, वही संबंध साधन और साध्य में है।[१] महात्मा गांधी के इस विचार का उद्गम बहुत प्राचीन हो सकता है, किंतु इसके विशाल प्रवाह आचार्य भिक्षु हैं।

आचार्य भिक्षु रहस्यमय पुरुष हैं। अनेक लोगों की धारणा है कि उन्होंने वैसा कहा है, जैसा पहले कभी नहीं कहा गया। उनके विचारों में विश्वास न रखने वाले कहते हैं–'उन्होंने ऐसी मिथ्या धारणाएं फैलाई हैं, जो सब धर्मों से निराली हैं।' उनके विचारों में विश्वास रखने वाले कहते हैं–'उन्होंने वह आलोक दियां है, जो धर्म का वास्तविक रूप है।' इसमें कोई संदेह नहीं कि वे अलौकिक पुरुष हैं। उनका तत्त्वज्ञान और उनकी व्याख्याएं अलौकिक हैं। लौकिक पुरुष साध्य की ओर जितना ध्यान देते हैं, उतना साधन की ओर नहीं देते। धर्म इसलिए अलौकिक है कि उसमें साधन का उतना ही महत्त्व है, जितना साध्य का। आचार्य भिक्षु ने यह सूत्र प्रस्तुत किया–'अहिंसा के साधन उसके अनुकूल हो तभी उसकी आराधना की जा सकती है, अन्यथा वह हिंसा में परिणत हो जाती है।'

इस सूत्र ने लोगों को कुछ चौंकाया, किंतु इसकी व्याख्या ने तो जनमानस को आंदोलित ही कर दिया। आचार्य भिक्षु ने कहा–

1. कई लोग कहते हैं–'जीवों को मारे बिना धर्म नहीं होता। यदि मन के परिणाम अच्छे हों तो जीवों को मारने का पाप नहीं लगता, पर जान-बूझकर जीवों को मारने वाले के मन के परिणाम अच्छे कैसे हो सकते है?[१]

---

१. हिन्द स्वराज्य, पृ. २२०

२. विरत इविरत री चौपई : १२, ३४-३८

केइ कहें जीवां नें मार्‍यां बिनां, धर्म न हुवें तांम हो।
जीव मार्‍यां रो पाप लागें नहीं, चोखा चाहीजें निज परिणांम हो॥
केइ कहें जीव मार्‍यां बिनां, मिश्र न हुवें छें तांम हो।
पिण जीव मरण री सांनी करे, ले ले परिणांमा रो नांम हो॥
केइ धर्म नें मिश्र करवा भणी, छ काय रो करें घमसांण हो।
तिणरा चोखा परिणांम किहां थकी, पर जीवां रा लूंटें छे प्रांण हो॥
कोइ जीव खवावें छे तेहनां, चोखा कहें छें परिणांम हो।
कहें धर्म नें मिश्र हुवें नहीं, जीव खवायां विण तांम हो॥
जीव खांण रा परिणांम छें अति बुरा, खवावण रा पिण खोटा परिणांम हो।
यूंहि भोलां नें न्हांखें भरम में, ले ले परिणांमां रो नांम हो॥

2. जहां दया है वहां 'जीव-वध किए बिना धर्म नहीं होता' यह सिद्धांत मान्य नहीं हो सकता।

3. जीव-वध होता है, वह व्यक्ति की दुर्बलता है, किंतु उसे धर्म का रूप देना कि 'हिंसा किए बिना धर्म नहीं होता' नितांत दोषपूर्ण है।

4. एक जीव को मारकर दूसरे जीव की रक्षा करना धर्म नहीं है। धर्म यह है कि अधर्मी को समझा-बुझाकर धर्मी बनाया जाए।[१]

5. जीवों को मारकर जीवों का पोषण करना लौकिक मार्ग है। उसमें जो धर्म बताते हैं, वे पूरे मूढ़ और अज्ञानी हैं।[२]

6. कई लोग कहते हैं–दया लाकर जीवों को मारने में धर्म और पाप दोनों होते हैं,[३] किंतु पाप करने से धर्म नहीं होता और धर्म करने से पाप नहीं होता। एक करणी में दोनों नहीं हो सकते।[३]

7. पाप और धर्म की करणी भिन्न-भिन्न है।[४]

8. अव्रत का सेवन करना, कराना और अव्रत–सेवन का अनुमोदन करना पाप है।[५]

9. व्रत का सेवन करना, कराना और व्रत-सेवन का अनुमोदन करना धर्म है।

---

१. अणुकम्पा री चौपई : ५.५ :

२. वही ६.२५ :

जीवां नें मारे जीवां ने पोषें, ते तो मारग संसार नों जाणो जी।
तिण मांहें साध धर्म बतावें, ते पूरा छें मूंढ अयाणो जी॥

३. निन्व री चौपई ३, दुहा २ :

कहें दया आंण नें जीव मारीयां, हिवें छें धर्म नें पाप।
ए करम उदें पंथ काढीयो, भगवंत वचन उथाप॥

४. वही ३, दुहा ३ :

पाप कीयां धर्म न नींपजें, धर्म थी पाप न होय।
एक करणी में दोय न नींपजें, ए संका म आंणो कोय॥

५. निन्व री चौपई २.५ :

इविरत सेवायां सेवीयां भलो जांणीयां, तीनूंइ करणां पाप हो।
एहवो भगवंत वचन उथाप नें, कीधीं छें मिश्र री थाप हो॥

10. सम्यक्-दृष्टि लौकिक और लोकोत्तर मार्ग को भिन्न-भिन्न मानता है।[१]

11. धर्म त्याग में है, भोग में नहीं।

12. धर्म हृदय-परिवर्तन में है, बलात्कार में नहीं।

13. असंयति के जीने की इच्छा करना राग है।

14. उसके मरने की इच्छा करना द्वेष है।

15. उसके संयति होने की इच्छा करना धर्म है।

ये सिद्धांत नए नहीं थे। आचार्य भिक्षु ने कभी नहीं कहा–'मैंने कोई नया मार्ग ढूंढा है। उन्होंने यही कहा–'मैंने भगवान महावीर की वाणी को जनता के सम्मुख यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। यह बहुत बड़ा सत्य है। दुनिया में नया तत्त्व कोई है भी नहीं। जो है, वह पुराना है, बहुत पुराना है। नए का अर्थ है–पुराने को प्रकाश में लाना। जो आलोक बनकर पुराने को प्रकाशित करता है, वही नव-निर्माता है। संसार के जितने भी नव-निर्माता हुए हैं, उन्होंने यही किया है–आलोक बनकर प्राचीन को नवीन बनाया है। महात्मा गांधी ने अपने अहिंसक प्रयोगों के संबंध में लिखा है–'मैं कोई नया सत्य प्रदर्शित नहीं करता। मैं बहुत से पुराने सत्यों पर नया प्रकाश डालने का दावा अवश्य करता हूं।'[२] मैंने पहला लौकिक सत्याग्रही होने का दावा कभी नहीं किया। जिसका मैंने दावा किया है वह है उस सिद्धांत का लगभग सार्वभौम पैमाने पर उपयोग।[३]

पुराना सत्य जब नया बनकर आता है तब विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएं होती हैं। आचार्य भिक्षु ने जिस सत्य को प्रकाशित किया, वह नया नहीं है, प्राचीन आचार्यों ने इसे प्रकाशित किया है, किंतु वह नया इसलिए लगता है कि आचार्य भिक्षु ने जिस व्यवस्थित रूप में इसे सैद्धांतिक रूप दिया है, उस रूप में अन्य आचार्यों ने सैद्धांतिक रूप नहीं दिया। यह स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि किसी भी एक आचार्य ने ये सारी बातें नहीं कहीं। विकीर्ण रूप में देखें तो आचार्य धर्मदासगणी ने लिखा है–

१. अणुकम्पा री चौपई, ११-५२
२. यंग इंडिया, भाग १, पृ. ५६७
३. वही, भाग ३, पृ. ३६७

'जो तप और नियम में सुस्थित हैं, उनका जीना भी अच्छा है और मरना भी अच्छा है। वे जीवित रहकर गुणों का अर्जन करते हैं और मरकर सुगति को प्राप्त होते हैं।'[१]

'जो पाप-कर्म करने वाले हैं, उनका जीना भी अच्छा नहीं हैं और मरना भी अच्छा नहीं है। वे जीवित रहकर वैर की वृद्धि करते हैं और मरकर अंधकार में जा गिरते हैं।'[२]

आचार्य जिनसेन ने लिखा है–

'अर्थ और काम से सुख नहीं होता, क्योंकि वे संसार को बढ़ाने वाले हैं। जो धर्म सावद्य की उत्पत्ति करता है, उस धर्म से भी सुख नहीं होता। प्रधान सुख उससे होता है, जो निःसावद्य धर्म है।'[३]

कुछ व्यक्ति कहते हैं–आचार्य भिक्षु ने धर्म को लौकिक और लोकोत्तर के भेदों में विभक्त कर जीवन के टुकड़े कर डाले। इस आरोप को हम अस्वीकार नहीं करते और साथ-साथ हम यह भी स्वीकार किए बिना नहीं रह सकते कि जीवन को टुकड़ों में बांटे बिना कोई रह भी नहीं सकता। भगवान महावीर ने निक्षेप व्यवस्था में धर्म को लौकिक-लोकोत्तर भागों में विभक्त किया है।

महात्मा बुद्ध ने कहा–

'भिक्षुओ! ये दो दान हैं।'

'कौन से दो?'

'भौतिक-दान तथा धर्म-दान'। भिक्षुओ! इन दोनों में धर्म-दान श्रेष्ठ है।[४]

'भिक्षुओ! ये दो संविभाग (वितरण) हैं।'

---

१. उपदेशमाला, श्लोक ४४३

तवनियमसुट्ठियाणं कल्लाणं जीविअं पि मरणं पि।
जीवंतऽऽज्जंति गुणा, मयाऽवि पुण सुग्गइं जंति॥

२. वही, श्लोक ४४४ :

अहियं मरणं च अहिअं जीवियं पावकम्मकारीणं।
तमसम्मि पडंति मया, वेरं वड्ढंति जीवंता॥

३. उत्तरपुराण पर्व ५१.१०-११ :

न तावदर्थकामाभ्यां सुखं संसारवर्धनात्।
नामुष्मादपि मे धर्माद् यस्मात् सावद्यसम्भवः॥
निःसावद्योस्तिधर्मोऽन्यस्ततः सुखमनुत्तमम्।
इत्युदर्कोवितर्कोऽस्य विरक्तस्याभवत्ततः॥

४. अंगुत्तर निकाय, प्रथम भाग, पृ. ६४

'कौन से दो?'

'भौतिक-संविभाग तथा धार्मिक संविभाग। भिक्षुओ! ये दो संविभाग हैं। भिक्षुओ! इन दोनों संविभागों में धार्मिक-संविभाग श्रेष्ठ है।'

'भिक्षुओ! ये दो सुख हैं।'

'कौन से दो?'

'लौकिक-सुख और लोकोत्तर-सुख। भिक्षुओ! ये दो सुख हैं। भिक्षुओ! इन दोनों सुखों में लोकोत्तर-सुख श्रेष्ठ है।'[१]

'भिक्षुओ! ये दो सुख हैं।'

'कौन से दो?'

'साश्रव-सुख तथा अनाश्रव-सुख। भिक्षुओ! ये दो सुख हैं। भिक्षुओ! इन दोनों सुखों में अनाश्रव-सुख श्रेष्ठ है।'

'भिक्षुओ! ये दो सुख हैं।'

'कौन से दो?'

'भौतिक-सुख और अभौतिक-सुख। भिक्षुओ! ये दो सुख हैं। भिक्षुओ! इन दोनों सुखों में अभौतिक-सुख श्रेष्ठ है।'[२]

आचार्य धर्मदासगणी का अभिमत है–'तीर्थंकर भगवान बलात् हाथ पकड़कर किसी को हित में प्रवृत्त और अहित से निवृत्त नहीं करते।[३] वे उपदेश देते हैं। उत्पथ पर चलने से होने वाले परिणामों का ज्ञान देते हैं। उसे जो सुनता है, वह मनुष्यों का नहीं, देवताओं का भी स्वामी होता है।[४]

आचार्य भिक्षु ने जो कहा, वह उनके बाद भी कहा गया। महात्मा गांधी ने अहिंसा के ऐसे अनेक तथ्यों को प्रकाशित किया है, जिनका आचार्य भिक्षु के अभिमत से गहरा संबंध है। उन्होंने लिखा है–

---

१. अंगुत्तर निकाय, प्रथम भाग, पृ. ९६

२. अंगुत्तर निकाय, प्रथम भाग, पृ. ९५

३. उपदेशमाला, श्लोक ४४८
अरिहंता भगवंतो, अहियं व हियं व न वि इहं किंचि।
वारंति कारवंति य, धित्तूणं जणं बला हत्थे॥

४. उपदेशमाला, श्लोक ४४९ :
उवएसं पुणं तं दिंति, जेण चरिएण कित्तिनिलयाणं।
देवाण वि हुंति पहू, किमंग पुण अणुअमित्ताणं॥

1. यह यथार्थ है कि मैंने भावना को प्राधान्य दिया है, किंतु अकेली भावना से अहिंसा सिद्ध नहीं हो सकती। यह सच है कि अहिंसा की परीक्षा भावना से होती है, किंतु यह भी उतना ही सच है कि कोरी भावना से ही अहिंसा नहीं मानी जाएगी। जहां स्वार्थ के वश होकर हिंसा की गई है, वहां भावना चाहे कितनी ही ऊंची क्यों न हो तो भी स्वार्थमय हिंसा ही रहेगी। इससे उल्टे जो आदमी मन में वैर-भाव रखता है, किंतु लाचारी से उसने हिंसा नहीं की, उसे भी वैरी के प्रति अहिंसक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी भावना में वैर छिपा हुआ है। इसलिए अहिंसा का माप निकालने में भावना और कार्य दोनों की परीक्षा करनी होती है।[१]

2. धर्म संयम में है, स्वच्छंदता में नहीं। जो मनुष्य शास्त्र की दी हुई छूट से लाभ नहीं उठाता, वह धन्यवाद का पात्र है। संयम की कोई मर्यादा नहीं।

संयम का स्वागत दुनिया के तमाम शास्त्र करते हैं। स्वच्छंदता के विषय में शास्त्रों में भारी मतभेद है। समकोण सब जगह एक ही प्रकार का होता है। दूसरे कोण अगणित हैं। अहिंसा और सत्य–ये सब धर्मों के समकोण हैं। जो आचार इस कसौटी पर खरा न उतरे, वह त्याज्य है। इसमें किसी को शंका करने की आवश्यकता नहीं। अहिंसा-धर्म का पालन करने वाला निरंतर जागरूक रहकर अपने हृदयबल को बढ़ाए और प्राप्त छूटों के क्षेत्र को संकुचित करता जाए। भोग हरगिज धर्म नहीं। संसार का ज्ञानमय त्याग ही मोक्ष-प्राप्ति है।[२]

3. हम उससे यह अर्थ नहीं निकाल सकते कि 'गीता' में हिंसा का ही प्रतिपादन किया गया है। यह अर्थ निकालना उतना ही अनुचित है, जितना यह कहना कि शरीर-व्यापार के लिए कुछ हिंसा अनिवार्य है, इसलिए हिंसा ही धर्म है। सूक्ष्मदर्शी इस हिंसामय शरीर से अशरीरी होने का अर्थात् मोक्ष का ही धर्म सिखाता है।[३]

4. जिसे भय लगता है, जो संग्रह करता है, जो विषय में रत है, वह अवश्य ही हिंसामय युद्ध करेगा, लेकिन उसका वह धर्म नहीं है, धर्म तो एक ही है। अहिंसा का अर्थ है–मोक्ष और मोक्ष सत्यनारायण का साक्षात्कार है।[४]

5. सिद्धांत को ढूंढने में कोई मुश्किल नहीं होती है। उसका केवल अमल करने में ही सभी मुश्किलें आ पड़ती हैं, इसलिए सिद्धांत तो इस विषय में पूर्ण

---

१. अहिंसा, प्रथम भाग, पृ. ११५
२. अहिंसा, प्रथम भाग, पृ. ३२
३. वही, पृ. ४१-४२
४. अहिंसा, प्रथम भाग, पृ. ४२

हैं। उनका अमल करने वाले हम मनुष्य अपूर्ण हैं। अपूर्ण के द्वारा पूर्ण का अमल होना अशक्य होने के कारण प्रतिक्षण सिद्धांत के उल्लंघन की नई मर्यादा ठीक करनी पड़ती है। इससे हिन्दूशास्त्र में कह दिया गया है कि यज्ञार्थ की हुई हिंसा, हिंसा नहीं होती। यह अपूर्ण सत्य है। हिंसा तो सभी समय हिंसा ही रहेगी और हिंसा मात्र पाप है, किंतु जो हिंसा अनिवार्य हो पड़ती है, उसे व्यवहार-शास्त्र पाप नहीं मानता, इसलिए यज्ञार्थ में की गई हिंसा का व्यवहार-शास्त्र अनुमोदन करता है और उसे शुद्ध पुण्य-कर्म मानता है।[१]

6. जिस प्रकार लौकिक राजा के कानून में अपराधी अज्ञान के कारण दंड से बचता नहीं है, वही हाल अलौकिक राजा के नियमों का भी है।[२]

7. मैं छोटे-से-छोटे सजीव प्राणी को मारने का उतना ही विरोधी हूं, जितना लड़ाई के, किंतु मैं निरंतर ऐसे जीवों के प्राण इस आशा में लिए चला जाता हूं कि किसी दिन मुझमें यह योग्यता आ जाएगी कि मुझे यह हत्या न करनी पड़े। यह सब होते रहने पर भी अहिंसा का हिमायती होने का मेरा दावा सही होने के लिए यह परमावश्यक है कि मैं इसके लिए सचमुच में जी-जान से और अविराम प्रयत्न करता रहूं। मोक्ष अथवा सशरीरी अस्तित्व की आवश्यकता में मुक्ति की कल्पना का आधार है संपूर्णता को पहुंचे हुए पूर्ण अहिंसक स्त्री-पुरुषों की आवश्यकता। संपत्ति मात्र के कारण कुछ-कुछ हिंसा करनी पड़ती है। शरीररूपी संपत्ति की रक्षा के लिए चाहे थोड़ी भी, किंतु हिंसा करनी पड़ती है।[३]

श्रद्धा के आलोक में जो सत्य उपलब्ध होता है, वह बुद्धि या तर्कवाद के आलोक में नहीं होता। महात्मा गांधी के पास श्रद्धा का अमित बल था। वे ईश्वर के प्रति अत्यंत श्रद्धाशील थे। उनका ईश्वर था सत्य। आचार्य भिक्षु भी भगवान के प्रति श्रद्धालु थे। उनका भगवान था संयम।

जो सत्य है, वही संयम है और जो संयम है, वही सत्य है।

भगवान महावीर की भाषा में–'जो सम्यक् है वही मौन है और जो मौन है वही सम्यक् है।'[४] भगवान महावीर संयम के प्रतीक थे। उन्होंने वही कार्य करने की आज्ञा दी, जिसमें संयम था। उनकी आज्ञा और संयम में कोई भेद नहीं है। जो उनकी आज्ञा है, वह संयम है और जो संयम है वही उनकी आज्ञा है।

---

१. अहिंसा, प्रथम भाग, पृ. ५३

२. वही, पृ. ६१

३. वही, पृ. ६८

४. आयारो, ५/५७ :
जं सम्मं ति पासहा तं मोणं ति पासहा, जं मोणं ति पासहा तं सम्मं ति पासहा।

धर्मदासगणी ने लिखा है—भगवान की आज्ञा से ही चारित्र की आराधना की जाती है। उसका भंग करने पर क्या भग्न नहीं होता ? जो आज्ञा का अतिक्रमण करता है, वह शेष कार्य किसकी आज्ञा से करेगा ?'[१]

आचार्य भिक्षु ने आज्ञा को व्यावहारिक रूप दिया। उनके संगठन का केन्द्र-बिंदु आज्ञा है। उनकी भाषा में आज्ञा की आराधना, संयम की आराधना है और उसकी विराधना संयम की विराधना है। उनका संगठन विश्व के सभी संगठनों से शक्तिशाली है। आचार्य भिक्षु के शब्दों में भगवान महावीर की आज्ञा का सार है—आचार। आचार शुद्ध होता है तो विचार स्वयं शुद्ध हो जाते हैं। विचारों में आग्रह या अपवित्रता तभी आती है, जब आचार शुद्ध नहीं होता।

'आचारवान से मिलो, अनाचारी से दूर रहो'—आचार्य भिक्षु के इस घोष ने संगठन को सुदृढ़ बना दिया।

'श्रद्धा या मान्यता मिले तो साथ रहो, जिनमें वह न मिले, उन्हें रखकर संगठन को दुर्बल मत बनाओ'—आचार्य भिक्षु के इस सूत्र ने संगठन को प्राणवान बना दिया। एक ध्येय, एक विचार, एक आचार और एक आचार्य—यह है संक्षेप में उनके संगठन का आंतरिक स्वरूप।

आचार्य भिक्षु ने इसकी सदा याद दिलाई—

1. साधुओं का साध्य है आत्म-मुक्ति अर्थात् पूर्ण पवित्रता की उपलब्धि।

2. उनकी साधना है अहिंसा, जो स्वयं पवित्र है।

3. उनका साधन है आत्मानुशासन, जो स्वयं पवित्र है।

उस साध्य, साधना और साधन की पवित्रता साधु-समाज का नैसर्गिक रूप है। इसमें कोई बाधा उत्पन्न न हो, इसलिए आचार्य भिक्षु ने एक संगठन का सूत्रपात किया। चरित्र विशुद्ध रहे, साधु शिष्यों के लोलुप न बनें और परस्पर प्रगाढ़ प्रेम रहे, यही है उनकी संघ-व्यवस्था का उद्देश्य।[२]

संगठन अच्छा भी होता है और बुरा भी। शक्ति का स्रोत होने के कारण वह अच्छा होता है। उससे साधना की गति अबाध नहीं रहती, इसलिए वह

---

१. उपदेशमाला, श्लोक ५०५

आणाए च्चिय चरणं तब्भंगे जाण किं न भग्गं ति।
आणं च अइक्कंतो, कस्साएसा कुणइ सेसं॥

२. लिखत : १८३२।

बुरा भी होता है। साधना कुंठित वहां होती है, जहां अनुशासन आरोपित होता है। आत्मानुशासन से चलने वाला संगठन साधना में कुंठा नहीं लाता।

आचार्य भिक्षु का संगठन केवल शक्ति-प्राप्ति के लिए नहीं है। वह आचार-शुद्धि के लिए है। आचार्य भिक्षु की दृष्टि में आचार की भित्ति पर अवस्थित संगठन का महत्त्व है। उससे विहीन संगठन का धार्मिक मूल्य नहीं है।

आचार्य भिक्षु के अनेक रूप हैं। उनमें उनके दो रूप बहुत ही स्पष्ट और प्रभावशाली हैं–

1. विचार और चारित्र-शुद्धि के प्रवर्तक।

2. संघ-व्यवस्थापक।

प्रस्तुत ग्रंथ में इन्हीं दो रूपों की स्पष्ट-अस्पष्ट रेखाएं हैं। इस कार्य में मुनि मिलापचंदजी, सुमेरमलजी, हीरालालजी, श्रीचंदजी और दुलहराजजी सहयोगी रहे हैं। मैंने केवल लिखा और शेष कार्य उन्हीं का है। आचार्य तुलसी की प्रेरणा या आशीर्वाद ही नहीं, उनके अंत:करण की कामना भी मुझे आलोकित कर रही है। 'तेरापंथ-द्विशताब्दी-समारोह' पर उसके प्रवर्तक का परम यशस्वी और तेजस्वी रूप रेखांकित हो, यह पूज्य गुरुदेव की तीव्र मनोकामना थी। यह मेरा सौभाग्य है कि उसकी सफलता का निमित्त बनने का श्रेय मुझे दिया। आचार्यश्री की भावना और मेरे शब्दों में निर्मित आचार्य भिक्षु की जीवन-रेखाएं पथिकों के लिए प्रकाश-स्तंभ बनें।

2016 मार्गशीर्ष बदी 3 **आचार्य महाप्रज्ञ**

श्रीरामपुर (रामपुरिया कॉटन मिल), कलकत्ता

1. व्यक्तित्व की झांकी

जैन-परंपरा में आचार्य भिक्षु का उदय एक नए आलोक की सृष्टि है। वे (वि. 1783) इस संसार में आए, (वि. 1808) स्थानकवासी मुनि बने, (वि. 1817) तेरापंथ का प्रवर्तन किया और (वि. 1860) इस संसार से चले गए।

उनका जीवन तीन प्रकार की विशिष्ट अनुभूतियों का पुंज है। मारवाड़ की शुष्क-भूमि में उनका मस्तिष्क कल्पतरु बन फल सका, यह उनकी अपनी विशेषता है। वे विद्यालय के छात्र नहीं बने, विद्या ने स्वयं उनका वरण किया। वे काव्यकला के ग्राहक नहीं बने, कविता ने स्वयं उनके चरण चूमे। वे कल्पना के पीछे नहीं दौड़े, कल्पना ने स्वयं उनका अनुगमन किया।

मैं श्लाघा के शब्दों में उनके जीवन को ससीम बनाना नहीं चाहता। मैं चाहता हूं कि उनके असीम व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति उनके विचारों से ही हो। मेरे पाठक उनको केवल जैन-आचार्य की भूमिका में ही नहीं पढ़ पाएंगे, मैं उन्हें अनेक भूमिकाओं के मध्य में से लेता चलूंगा, चढ़ाव-उतार के लिए संतुलन उन्हें रखना होगा।

1. समय की सूझ

व्यक्ति में सबसे बड़ा बल श्रद्धा का होता है। श्रद्धा टूटती है तो पैर थक जाते हैं, वाणी रुक जाती है और शरीर जड़ हो जाता है। श्रद्धा बनती है तो ये सब गतिशील बन जाते हैं।

एक ठाकुर और भीखणजी मार्ग में साथ-साथ जा रहे थे। ठाकुर साहब को तंबाकू का व्यसन था। बीच में ही तंबाकू निबट गई। उनके पैर लड़खड़ाने लगे। ठाकुर साहब ने कहा–'भीखणजी! तंबाकू के बिना चलना बड़ा कठिन हो रहा है। मुझे कहीं रुकना पड़ेगा'। भीखणजी ने सोचा–आगे दूर जाना है। साथी को जंगल में अकेले छोड़ना भी उचित नहीं। तंबाकू के बिना ये चल नहीं सकेंगे। भीखणजी ने कहा–ठाकुर साहब, धीमे-धीमे चलिए, दिन थोड़ा है।

मैं तंबाकू की खोज करता हूं, कहीं आस-पास में किसी पथिक के पास मिल जाए। ठाकुर साहब को थोड़ा साहस बंधा। वे धीमे-धीमे आगे चले। भीखणजी पीछे रह गए। उन्होंने एक कंडा लिया और उसकी बुकनी बनाकर पुड़िया ठाकुर साहब के हाथ में थमा दी। ठाकुर साहब जम्हाइयां ले ही रहे थे। उस पुड़िया को खोलते ही खिल उठे। भीखणजी ने कहा–'अच्छी तो है नहीं, ऐसी है, पर काम चल जाएगा।' ठाकुर साहब ने थोड़ी-सी चुटकी भर सूंघी और सहसा बोल उठे–'भीखणजी! अच्छी ही है।' ठाकुर साहब की गति में वेग आ गया। मार्ग कटता गया। वे दिन रहते-रहते घर पहुंच गए।'[१]

2. श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय

कहीं श्रद्धा होती है, बुद्धि नहीं होती, कहीं बुद्धि होती है, श्रद्धा नहीं होती। कहते हैं–श्रद्धा अंधी होती है, बुद्धि लंगड़ी। श्रद्धालु चलता है, बुद्धिमान देखता है। ये दोनों अधूरे हैं। पूर्णता इनके समन्वय से आती है। साधक अपने-आपको पूर्ण नहीं मानता, वह सिद्ध होने पर ही पूर्ण होता है, लेकिन जिसके जीवन में श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय हो, उसकी गति साध्य की दिशा में होती है, इसलिए उसे पूर्ण कहा जा सकता है। आचार्य भिक्षु का जीवन श्रद्धा और बुद्धि के समन्वय का सुंदर उदाहरण है।

मारवाड़ का यह चाणक्य थोड़े ही समय के बाद धर्मदूत बन गया। जोधपुर के राजा विजयसिंह के मंत्री आचार्य भिक्षु के पास आए। विश्व सादि-सांत है या अनादि-अनंत? प्रश्न पूछा। आचार्य भिक्षु ने इसका समाधान दिया। संतोषजनक समाधान पाकर मंत्री ने कहा–'आपकी बुद्धि कई राज्यों का संचालन करे वैसी है।' मंत्री की इस प्रशंसा का उत्तर आचार्य भिक्षु ने एक पद्य में दिया, जो इस प्रकार है–

बुद्धि तिणारी जाणियै, जो सेवे जिन-धर्म।
अवर बुद्धि किण काम री, जो पड़िया बांधे कर्म॥

वही बुद्धि सराहने योग्य है, जो धर्म के आचरण में लगे, मुक्ति का मार्ग ढूंढे। वह बुद्धि व्यर्थ है, जिससे बंधन बढ़े।[२]

संत की अमर वाणी आज के बुद्धिमान को चुनौती दे रही है।

3. रूढ़िवाद पर प्रहार

भीखणजी का विवाह हो चुका था। एक बार वे ससुराल गए। भोजन का समय हुआ। खाने की थालियां परोसी गईं। खाना शुरू नहीं हुआ, उसके

१. भिक्खु दृष्टान्त, १११
२. वही, ११२

पहले ही गालियां गाई जाने लगीं। दामाद जब ससुर के घर खाना खाता है तब स्त्रियां उसे गालियों के गीत सुनाती हैं, यह मारवाड़ की चिर-प्रचलित प्रथा है। कुलवधुओं ने गाया– 'ओ कुण कालो जी काबरो।' भीखणजी का साला लंगड़ा था। उन्होंने व्यंग्य की भाषा में कहा–'जहां अंधे और लंगड़े को अच्छा और अच्छों को अंधा और लंगड़ा बताया जाता है, वहां क्या भोजन किया जाए?' थाली परोसी रह गई, भीखणजी बिना खाए उठ खड़े हुए। रूढ़िवाद उन्हें अपने बाहुपाश में जकड़ नहीं सका।[१]

4. अंधविश्वास का मर्मोद्घाटन

दूसरे प्रांतों में 'मारवाड़ी' का अर्थ है राजस्थानी, किंतु राजस्थान में 'मारवाड़ी' का अर्थ जोधपुर राज्य का वासी है। इस राज्य के एक प्रदेश का नाम कांठा है। वहां एक छोटा-सा कस्बा है कंटालिया। वहां किसी के घर चोरी हो गई। चोर का पता नहीं चला, तब उसने बोर नदी से एक कुम्हार को बुला भेजा। वह अंधा था, फिर भी चोरी का भेद जानने के लिए लोग उसे बुलाते थे। 'उसके मुंह से देवता बोलता है', इस रूप में उसने प्रसिद्धि पा ली थी। कुम्हार आया और भीखणजी से पूछा– 'चोरी का संदेह किस पर है?' भीखणजी उसकी ठग-विद्या की अंत्येष्टि करना चाहते ही थे। इस अवसर का लाभ उठाकर उन्होंने कहा–'भाई! संदेह तो 'मजने' पर है। रात गई और कुम्हार अखाड़े में आया। लोक इकट्ठे हो गए। उसने देवता को अपने शरीर में बुलाया। शरीर कांप उठा। 'डाल दे, डाल दे' कह कर वह चिल्लाया, पर चोरी के धन को लौटाने कोई नहीं आया। तब 'नाम प्रकट करो', 'नाम प्रकट करो', की आवाजें आने लगीं। कुम्हार का देवता बोल उठा–गहना 'मजने' ने चुराया है, 'मजने' ने चुराया है, 'मजने' ने चुराया है। वहां एक अतिथि बैठा था। उसने अपने डंडे को आकाश में घुमाते हुए कहा–'मजना मेरे बकरे का नाम है, उस पर झूठा आरोप लगाता है! इस बार उसका नाम लिया तो फिर लोग कुछ और ही देखेंगे।' उसकी ठग-विद्या की कलई खुल गई। लोग उसे कोसने लगे। भीखणजी ने कहा–इसे कोसने की क्या जरूरत है। मूर्ख तुम हो, चोरी आंख वालों के घर हुई और उसका पता लगाने के लिए तुम अंधे को बुलाते हो, गहना कैसे आएगा?'[२]

ठग-विद्या का मर्मोद्घाटन करना भीखणजी का जीवन-मंत्र था। इसका आदि और अन्त नहीं है। जीवन का मंत्र सदा जीवन के साथ चलता है।

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, १०५

२. वही, १०६

5. अदम्य उत्साह

धर्म का क्षेत्र ठग-विद्या से अछूता नहीं था। बहुत सारे लोग साधु बनकर भी साधुता को नहीं निभाते थे। वे कलिकाल का नाम लेकर लोगों को भरमाते थे। पांचवां आरा है, अभी पूरा साधुपन पाला नहीं जा सकता, इसकी ओट में बहुत-सी बुराइयां पलती थीं। आचार्य भिक्षु ने कहा–'उधार साहूकार भी लेता है और दिवालिया भी लेता है।

खत दोनों लिखते हैं–महाजन जब मांगेगा तभी उसका रुपया लौटा दिया जाएगा, परंतु साहूकार और दिवालिये की पहचान मांगने पर होती है। जो साहूकार होता है, वह ब्याज सहित मूल धन दे देता है। जो दिवालिया होता है, वह मूल पूंजी भी नहीं देता। भगवान की वाणी का पालन करने वाला साधु है और पांचवें आरे का नाम लेकर भगवान की वाणी का उल्लंघन करने वाला असाधु है।'[१]

आचार्य रुघनाथजी ने कहा– 'भीखणजी! अभी पांचवां आरा है, इस काल में कोई भी दो घड़ी का साधुपन पाल ले तो वह सर्वज्ञ हो जाए।' आचार्य भिक्षु ने कहा– 'यदि दो घड़ी में ही सर्वज्ञता प्राप्त होती है तो इतने समय तक तो मैं श्वास बंद कर भी रह जाऊं'।[२]

6. स्वतंत्र चिंतन

एक वैद्य ने आंख के रोगी की चिकित्सा शुरू की। कुछ दिन बीते। आंख ठीक हो गई। वैद्य ने बधाई मांगी। रोगी ने कहा–'मैं पंचों से पूछूंगा। वे कहेंगे– मेरी आंखें ठीक हो गई हैं, मुझे दिखाई देने लगा है, तो मैं तुम्हें बधाई दूंगा, नहीं तो नहीं।' वैद्य ने पूछा–'तुम्हें दिखाई देता है या नहीं?' रोगी ने कहा–'मुझे भले ही दिखाई दे, पर जब पंच कह देंगे कि तुझे दीखता है, बधाई तब ही मिलेगी।'[३]

आचार्य भिक्षु ने इस उदाहरण के द्वारा अंधानुकरण करने वालों और दूसरों पर ही निर्भर रहने वालों का चित्र ही नहीं खींचा, उन्होंने उनकी पूरी खबर भी ली। उनकी विचारधारा स्वतंत्र थी। उन्होंने अनेक धर्माचार्यों को परखा। आखिर स्थानकवासी संप्रदाय के आचार्य रुघनाथजी के शिष्य बने। आठ वर्ष तक उनके संप्रदाय में रहे। उनकी परीक्षा-पटु बुद्धि को वहां भी संतोष नहीं मिला। वे मुक्त होकर चल पड़े। ज्ञानवान व्यक्ति केन्द्र में होता है।

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, ७९

२. वही, १०८

३. वही, ८०

उसके आस-पास समाज स्वयं बन जाता है। आचार्य भिक्षु की अनुभूतियों के आलोक में तेरापंथ संघ का प्रारंभ हो गया।

7. मोह के उस पार

बुआ ने कहा–'भीखण! तू दीक्षा लेगा तो मैं पेट में कटारी भोंककर मर जाऊंगी।'

आपने कहा–'कटारी पूनी नहीं है, जिसे पेट में भोंक ली जाए।'[१]

बुआ को मोह से उबारा, वे उसके मोह में नहीं फंसे।

भीखणजी के पिता शाह बल्लूजी इस संसार से चल बसे। माता दीपांबाई उन्हें दीक्षा की अनुमति नहीं दे रही थी। आचार्य रुघनाथजी ने दीपांबाई को समझाया। बहुत चर्चा के बाद उन्होंने कहा–'मैंने सिंह का सपना देखा, यह राजा होगा। मैं इसे मुनि होने की आज्ञा कैसे दे सकती हूं?' आचार्य ने कहा– 'मुनि राजा से बहुत बड़ा होता है। तेरा पुत्र मुनि बनकर सिंह के समान गूंजेगा। इसमें तुझे क्या आपत्ति है?' आचार्य की बात दीपांबाई के गले उतर गई और भीखणजी रुघनाथजी के शिष्य बन गए।

8. विश्वास विफल नहीं होता

राजनगर संत भीखणजी का बोधि-क्षेत्र है। यहां उन्हें नया आलोक मिला और आलोकमय पथ पर चलने की क्षमता मिली।

राजनगर के श्रावकों ने विद्रोह कर दिया। वे मुनियों को वंदना नहीं करते। रुघनाथजी ने संत भीखणजी को आदेश दिया कि तुम श्रावकों को समझाने के लिए राजनगर जाओ। उन्होंने अपने चार सहयोगी मुनियों के साथ राजनगर की ओर प्रस्थान किया। चातुर्मास प्रारंभ हुआ। संत भीखणजी ने श्रावकों को सुना। श्रावक उनकी श्रद्धा, बुद्धि और वैराग्य पर विश्वास करते थे, इसलिए उन्होंने जो कहा, उस पर तर्क नहीं किया। विश्वास विफल नहीं होता। श्रावकों की बात पर संत भीखणजी ने चिंतन किया। उन्होंने मन ही मन सोचा–क्या हम लोग आचार-शिथिल नहीं हैं? कलिकाल की दुहाई देकर क्या हम महाव्रतों की यत्र-तत्र अवहेलना नहीं करते? उनको कंपन-ज्वर हो गया और उस दशा में उनके संकल्प ने नया मार्ग ढूंढ लिया। श्रावकों का विश्वास विफल नहीं हुआ।

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, २४०

9. आलोचना

कड़वी दवा भी लोग पीते हैं और वैद्य पिलाते हैं। दवा कड़वी है, यह दोष नहीं है। दवा की कसौटी रोग मिटाने की क्षमता से की जाती है, कड़वापन या मिठास से नहीं।

एक व्यक्ति ने कहा–'आपके प्रयोग बहुत कड़वे हैं'। आचार्य भिक्षु ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया–गंभीर वात का रोग है। वह खुजलाने से कैसे मिटे? उसे मिटाने के लिए कुश का ही दाग देना होता है।[१]

आचार्य भिक्षु ने आचार की शिथिलता और विचारों के धुंधलेपन पर गहरा प्रहार किया। उनकी भाषा कठोर है, नुकीली है और चुभनेवाली है, पर उसमें आत्मा की आवाज है, वेदना की अभिव्यक्ति है।

10. जागरण

राजस्थान में ब्याह आदि कुछ प्रसंगों पर रात्रि-जागरण–रातिजोगे की प्रथा है। आचार्य भिक्षु ने भी रात्रि-जागरण किया। पाली की घटना है। रात को व्याख्यान पूरा हुआ, लोग चले गए। आप चौकी पर बैठे थे। दो आदमी खड़े-खड़े चर्चा करते रहे। आप उन्हें उत्तर देते रहे। अन्य साधु सो रहे थे। रात का अंतिम प्रहर आया। आपने साधुओं को जगाया और कहा–'प्रतिक्रमण करो।' साधुओं ने पूछा–'आपकी नींद कब खुली?' आपने कहा–'कोई सोया भी तो हो?'[२]

सोने के लिए जागने वाले बहुत होते हैं, पर जागरण के लिए जागने वाले विरले ही होते हैं।

11. आचार-निष्ठा

संसार में सब एकरूप नहीं होते। कुछ लेने का होता है, कुछ छोड़ने का। जानने का सब होता है। जो छोड़ने का हो उसी को छोड़ा जाए, शेष को नहीं। जीवन की सफलता का यह एक मंत्र है।

एक बहन आई और आचार्य भिक्षु को भिक्षा लेने की प्रार्थना कर चली गई। यह काम कई दिनों तक चलता रहा। एक दिन आचार्य भिक्षु भिक्षा लेने उसके घर गए। आपने पूछा–'तू भिक्षा देने के बाद हाथ ठंडे जल से धोएगी या गर्म जल से?'

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, ६९

२. भिक्खु दृष्टान्त, ५३

बहन–'गर्म जल से।'

आचार्य भिक्षु–'कहां धोएगी?'

बहन–'इस नाली में।'

आचार्य–'वह जल कहां जाएगा?'

बहन–'नीचे।'

आचार्य–'इससे तो अनेक जीव मर सकते हैं या मर जाएंगे, इसलिए मैं तेरे हाथ से भिक्षा नहीं ले सकता।'

बहन–'आप भिक्षा ले लें। मैं हाथ कैसे और कहां धोऊंगी, इसकी चिंता क्यों करते हैं? मैं भिक्षा देकर हाथ धोती हूं, उसे भला कैसे छोड़ूंगी?'

आचार्य–'तो रोटी के लिए मैं अपना आचार क्यों तोड़ूंगा?'[१]

एक आत्मस्थ व्यक्ति को आनंदानुभूति आचारनिष्ठ रहने में होती है, वह आचार को ठुकराकर रोटी जुटाने में नहीं होती। आचार के लिए रोटी को ठुकराने में जो पुरुषार्थ है, वह रोटी के लिए आचार को ठुकराने में समाप्त हो जाता है।

12. साधु कौन और असाधु कौन?

आलोचना दोष की होनी चाहिए और प्रशंसा गुण की। किसी व्यक्ति की आलोचना करने वाला अपने लिए खतरा उत्पन्न करता है, आलोच्य के लिए वह न भी हो। प्रशंसा करने वाला प्रशस्य के लिए खतरा उत्पन्न करता है। आचार्य भिक्षु ने बहुत आलोचना की, उनकी हर आलोचना में क्रांति का घोष है, पर व्यक्तिगत आलोचना से जितने वे बचे, उतना विरला ही बच सकता है।

एक आदमी ने पूछा–'महाराज! इतने संप्रदाय हैं, इनमें कौन साधु हैं और कौन असाधु?'

आचार्यवर ने कहा–'एक अंधा मनुष्य था। उसने वैद्य से पूछा– नगर में नग्न कितने हैं और कपड़े पहनने वाले कितने? वैद्य बोला– यह दवा लो, आंख में डाल लो। मैं तुम्हें दृष्टि देता हूं, फिर तुम ही देख लेना–नग्न कितने हैं और कपड़े पहनने वाले कितने?'

आपने कहा–'मैं साधु और असाधु की पहचान बता देता हूं, फिर तुम्हीं परख लेना, कौन साधु है और कौन असाधु? नाम लेकर किसी को असाधु

१. भिक्खु दृष्टान्त, ३२

कहने से झगड़ा खड़ा हो जाता है। दृष्टि मैं देता हूं और मूल्यांकन तुम्हीं कर लेना।'[१]

एक समय किसी दूसरे व्यक्ति ने ऊपर का कथन दोहराया।

आपने कहा—'एक आदमी ने पूछा—इस शहर में साहूकार कौन है और दिवालिया कौन है? उत्तरदाता ने कहा—मैं किसे साहूकार बताऊं और किसे दिवालिया? मैं तुम्हें गुण बता देता हूं—'जो लेकर वापस देता हो, वह साहूकार, जो लेकर वापस नहीं देता और मांगने पर झगड़ा करता है, वह दिवालिया'। परीक्षा तुम्हीं कर लेना—'कौन साहूकार है और कौन दिवालिया?'

आपने कहा—'मैं तुम्हें लक्षण बता देता हूं—'जो महाव्रतों को ग्रहण कर उनका पालन करे, वह साधु और जो उन्हें न निभाए, वह असाधु।' परीक्षा तुम्हीं कर लेना, कौन साधु है और कौन असाधु?'[२]

13. सिद्धांत और आचरण की एकता

जहां विधान दूसरों के लिए होता है, अपने लिए नहीं, वहां वह जीकर भी निर्जीव बन जाता है। जो महान होता है, वह सबसे पहले विधान को अपने ऊपर ही लागू करता है।

एक दूसरे संप्रदाय का साधु आया और आचार्य भिक्षु को एकांत में ले गया। आपने थोड़े समय तक बातचीत की और लौट आए।

हेमराजजी स्वामी आपके दाएं हाथ थे। उन्होंने पूछा—'गुरुदेव! वह किसलिए आया था और उसने क्या बातचीत की?'

आपने कहा—'वह किसी दोष का प्रायश्चित्त लेने आया था।'

हेमराजजी—'किस दोष का?'

आचार्य—'मुझे कहना नहीं कल्पता।'[३]

व्यवस्था पालन के लिए अपने प्रिय शिष्य की भी उपेक्षा कर देनी चाहिए, यह बहुत बड़ा सिद्धांत नहीं है, पर बहुत बड़ा कार्य है। जहां सिद्धांत की गुरुता कार्य की गहराई में लीन हो जाती है, वहां कार्य और सिद्धांत एक-दूसरे में चमक ला देते हैं।

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, ९९

२. भिक्खु दृष्टान्त, १००

३. वही, ५७

14. अकिंचन की महिमा

यद्यपि सामग्री चौंधिया देती है, पर प्रथम दर्शन में आदि से अंत तक व्यक्ति का तेज ही चमकता है। उपकरण किसी के अंतर को नहीं छू सकता। आचार्य भिक्षु पुर से भीलवाड़ा जा रहे थे। उन्होंने बीच में एक जगह विश्राम लिया।

ढूंढाड़ का एक आदमी मिला। उसने पूछा– 'आपका नाम क्या है?' आपने कहा–'मेरा नाम भीखण है।'

वह बोला–'भीखणजी की महिमा तो बहुत सुनी है, पर आप तो अकेले पेड़ के नीचे बैठे हैं। मेरी कल्पना तो थी कि आपके पास बहुत आडंबर होगा– हाथी, घोड़े, रथ और पालकियां होंगी, पर कुछ नहीं देखता हूं।'

आचार्य–महिमा इसीलिए तो है कि पास में ऐसा आडंबर नहीं। साधु का मार्ग ऐसा ही है।[१]

आचार्य भिक्षु उसके अंतरतम के देवता हो गए।

अंतरतम उसी के लिए सुरक्षित रह सकता है, जो बाहरी सुरक्षा की चिंता से मुक्त होता है। सच तो यह है आचार्य भिक्षु अंतर की सुरक्षा से इतने आश्वस्त थे कि बाहरी सुरक्षा का प्रयत्न उनके लिए मूल्यहीन बन गया था।

15. जहां बुराई भलाई बनती है

विश्व में अनेक घटनाएं घटती हैं–कोई अनुकूल और कोई प्रतिकूल। अनुकूल घटना में मनुष्य फूलकर कुप्पा हो जाता है और प्रतिकूल घटना में सिकुड़ जाता है। यह तटस्थ वृत्ति के अभाव में होता है। तटस्थ व्यक्ति समभावी होता है। उसका मन इतना बलवान हो जाता है कि वह अप्रिय को भी प्रिय मानता है और असम्यक् को भी सम्यक् रूप में ग्रहण करता है।

आचार्य भिक्षु पाली में चातुर्मास करने आए। एक दुकान में ठहरे। एक संप्रदाय के आचार्य दुकान के मालिक के पास गए। उसकी पत्नी से कहा–'बहिन! तूने दुकान दी है, पर चौमासा शुरू होने के बाद चार मास तक भीखणजी इसे छोड़ेंगे नहीं।' वह आचार्य भिक्षु के पास आई। उसने कहा–'मेरी दुकान से चले जाएं।' आपने कहा–'हम जबरदस्ती रहने वाले नहीं हैं। तू जब भी कहेगी तभी चले जाएंगे। चातुर्मास में भी हम दुकान को छोड़ सकते हैं।'

१. भिक्खु दृष्टान्त, १२५

बहिन ने कहा–'मुझे तुम्हारे जैसे ही कह गए हैं कि चौमासा शुरू होने पर दुकान नहीं छोड़ेंगे, इसलिए मैं दुकान में रहने की अनुमति नहीं दे सकती।'

आचार्य भिक्षु उस दुकान को खाली कर दूसरी जगह चले गए। दिन में दूसरी दुकान के ऊपर रहते और रात को नीचे दुकान में व्याख्यान देते। लोग बहुत आते।

प्रकृति रूप बदलती रहती है। राजस्थान में वर्षा कम होती है, लेकिन इस वर्ष बरसात ने सीमा तोड़ दी। प्रकृति का प्रकोप बहुतों को सहना पड़ा। उस दुकान को भी सहना पड़ा, जिसमें आचार्य भिक्षु पहले ठहरे थे। उसका शहतीर टूट गया। दुकान ढह गई। आचार्य भिक्षु ने यह सुना तो बोल उठे–'जिन्होंने दुकान से निकालने की प्रेरणा दी, सही माने में उन्होंने हमारा उपकार किया। यदि आज हम उस दुकान में होते तो.........,'[१]

बुराई करने वाले का अवश्य ही बुरा होता है, पर बहुत अच्छा तो वह भी नहीं होता, जो बुराई के भार से दब जाए। बुराई को पैरों से रौंदकर चलने वाला ही अपने मन को मजबूती से पकड़ सकता है।

16. क्षमा की सरिता में

अमृत को जहर बनाने वाले बहुत हो सकते हैं, किंतु जहर को अमृत बनाने वाले विरले ही होते हैं। जहर को अमृत वही बना सकता है, जिसमें जहर न हो।

एक संप्रदाय के साधु और आचार्य भिक्षु के बीच तत्त्व-चर्चा हो रही थी। प्रसंगानुसार आचार्य भिक्षु ने बताया–'धर्म के लिए हिंसा करने में दोष नहीं, यह अनार्य-वचन है, यह भगवान महावीर ने कहा है।' प्रतिवादी साधु ने अपने शिष्य से कहा–'अपनी प्रति ला, यह पाठ शुद्ध नहीं है।' शिष्य से प्रति मंगवाकर देखा तो वही पाठ मिला, जो बताया गया था। उनके हाथ कांपने लगे।

तब आचार्य भिक्षु ने कहा–'मुनिजी! हाथ क्यों कांप रहे हैं? जनता पाठ सुनने को उत्सुक है। आप सुनाइए न।' उसने पाठ नहीं सुनाया। आचार्य भिक्षु ने कहा–'हाथ में कंपन होने के चार कारण होते हैं–

1. कंपन वात
2. क्रोध का आवेश
3. मैथुन का आवेश
4. चर्चा में पराजय।

१. भिक्खु दृष्टान्त, २

यह सुनकर मुनिजी ने कहा–'साले का माथा काट डालूं।'

जहर को अमृत बनाते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा–'मुनिजी! जगत की सारी स्त्रियां मेरी बहनें हैं। आपके स्त्री है तो मैं आपका साला हो सकता हूं, यदि आपके स्त्री नहीं है, आप मुझे साला बनाते हैं तो आपको झूठ बोलने का दोष लगता है। आपने दीक्षा ली तब सभी जीवों को मारने का त्याग किया था। आपकी दृष्टि में मैं साधु भले ही न होऊं, पर मनुष्य तो हूं, एक प्राणी तो हूं, दीक्षा लेते समय क्या मुझे मारने की छूट रखी थी।'[१]

विरोध विनोद में बदल गया, जहर अमृत बन गया। लोग खिलखिला उठे। आवेश का दोष क्षमा की सरिता में बह गया।

17. सत्य का खोजी

सत्य उसी के पल्ले पड़ता है जिसकी आत्मा पवित्र होती है। उसमें सत्य का ही आग्रह होता है, बाहरी उपकरणों का नहीं।

एक दिन कुछ दिगम्बर जैन आचार्य भिक्षु के पास आए। उन्होंने कहा–'महाराज! आपका आचार और अधिक चमक उठे, यदि आप वस्त्र न पहने।' आपने कहा–'आप लोगों की भावना अच्छी है, पर मुझे श्वेताम्बर-आगमों में विश्वास है। उन्हीं के आधार पर मैंने घर छोड़ा है। उनके अनुसार मुनि कुछ वस्त्र रख सकता है, इसलिए मैं रखता हूं। यदि मुझे दिगम्बर-आगमों में विश्वास हो जाए तो मैं उसी समय वस्त्रों को फेंक दूं, नग्न हो जाऊं।'[२]

सत्य का शोधक जितना निश्चल होता है, उतना ही नम्र। आचार्य भिक्षु ने जो नई व्याख्या की, उसके अंत में लिख दिया कि मुझे यह सही लगता है, इसलिए मैं ऐसा करता हूं। किसी आचार्य और बहुश्रुत मुनि को यह सही न लगे तो वे इसमें परिवर्तन कर दें।[३]

यह बात वही लिख सकता है, जिसे सत्य के नए उन्मेषों का ज्ञान हो। सत्य अनंत है, वह शब्दों की पकड़ में नहीं आता। आग्रही मनुष्य उसे रूढ़ि बना देते हैं, किंतु उसे पा नहीं सकते।

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, ६१

२. भिक्खु दृष्टान्त, ३१

३. श्रद्धा निर्णय री चौपई, १६.१५

18. जो मन को पढ़ सके

मनुष्य की आकृति जैसे भिन्न होती है, वैसे प्रतिभा भी भिन्न होती है। कोई अपने मन की बात को भी पूरा नहीं समझ पाता और कोई दूसरों के मन की बात को भी पकड़ लेता है। दूसरों के हृदय को अपने हृदय में उंडेलने वाला उस दूरी को मिटा देता है, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच में है।

एक बहिन बार-बार कहती–'आचार्य भिक्षु आएं तो मैं दीक्षा ले लूं।' आचार्य भिक्षु केलवा पधारे। उस बहिन को ज्वर हो गया। शाम को वह दर्शन करने आई। उसकी गति और बोली में शिथिलता थी। आचार्य भिक्षु ने उससे पूछा–'बहिन! क्या हुआ, यों धीमे-धीमे कैसे बोलती हो?' वह बोली–'गुरुदेव! आपका तो आना हुआ और मुझे ज्वर हो गया।' आचार्य भिक्षु ने कहा–'ज्वर दीक्षा के डर से तो नहीं आया है?' बहिन–'मन में थोड़ा डर तो था।' आपने कहा–' दीक्षा कोई ऐसा खेल नहीं है, जो हर कोई खेल ले। यह यावज्जीवन का कार्य है।'[१]

एक भाई ने कहा–'गुरुदेव! साधु बनने की इच्छा है।'

आचार्य भिक्षु ने कहा–'तेरा हृदय कोमल है। दीक्षा के समय घर वाले रोएं तब तूं भी रोने लग जाए तो?'

भाई बोला–'गुरुदेव! आप सच कहते हैं, आंसू तो छलक पड़ेंगे।'

आचार्य भिक्षु-'दामाद ससुराल से अपने घर लौटे तब उसकी स्त्री रोए, वैसे वह भी रो पड़े तो कैसे लगे? कोई साधु बने तब उसके परिवार वाले रोएं, यह स्वार्थ हो सकता है, पर परमार्थ-पथ का अनुगामी भी उनके साथ-साथ रोने लगे तो वैराग्य की रीढ़ टूट जाती है।'[२]

नेता का अर्थ होता है– दूसरों को लेकर चलने वाला। जो व्यक्ति नेता होकर भी दूसरों के मन को नहीं पढ़ सकता, वह दूसरों को साथ लिए नहीं चल सकता। दूसरों के मन को वह पढ़ सकता है, जिसके मन की स्वच्छता में दूसरों के मन अपना प्रतिबिंब डाल सकें। जिसका मन इतना स्वच्छ होता है, उसकी गति के साथ असंख्य कदम चल पड़ते हैं।

19. व्यवहार-कौशल

अंतर की शुद्धि का महत्त्व अपने लिए अधिक होता है, दूसरों के लिए कम। व्यवहार की कुशलता का महत्त्व अपने लिए कम होता है, दूसरों के लिए

१. भिक्खु दृष्टान्त, ३६

२. भिक्खु दृष्टान्त, ३७

अधिक। अंतर की शुद्धि के बिना कोरी व्यवहार-कुशलता छलना हो जाती है और व्यवहार-कुशलता के बिना अंतर की शुद्धि दूसरों के लिए उपयोगी नहीं होती।

एक गांव में साधु भिक्षा लेने के लिए गए। एक जाटनी के घर आटे का धोवन था। साधुओं के मांगने पर भी उसने नहीं दिया। साधु खाली झोली लिए लौट आए।

साधुओं ने कहा–'जल बहुत है, पर मिल नहीं रहा है।'

भिक्षु–'क्यों? क्या वह बहिन देना नहीं चाहती?'

साधु–'वह जो देना चाहती है, वह अपने लिए ग्राह्य नहीं है और जो ग्राह्य है, उसे वह देना नहीं चाहती।'

भिक्षु–'उसे धोवन देने में क्या आपत्ति है?'

साधु–'वह कहती है–आदमी जैसा देता है, वैसा ही पाता है। आटे का धोवन दूं तो मुझे आगे वही मिलेगा। मैं यह नहीं पी सकती। यह साफ पानी है, आप ले लीजिए।'

आचार्य भिक्षु उठे और साधुओं को साथ लेकर उसी घर में गए। धोवन की मांग करने पर उस बहिन ने वही उत्तर दिया, जो वह पहले दे चुकी थी।

भिक्षु–'बहिन! तेरे घर में कोई गाय है?'

बहिन–'हां, महाराज है।'

भिक्षु–'तू उसे क्या खिलाती है?'

बहिन–'चारा, घास।'

भिक्षु–'वह क्या देती है?'

बहिन–'दूध।'

भिक्षु–'तब बहिन! जैसा देती हो, वैसा कहां मिलता है? घास के बदले दूध मिलता है।'

अब वह रुक नहीं सकी। जल का पात्र उठा, सारा जल उसने साधुओं के पात्र में उंडेल दिया।[१]

इस जगत में अनेक कलाएं होती हैं। उसमें सबसे बड़ी कला है दूसरों के हृदय का स्पर्श करना। उस कला का मूल्य कैसे आंका जाए, जो दूसरों के हृदय तक पहुंच ही नहीं पाती।

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, ३४

20. चमत्कार को नमस्कार

दुनिया चमत्कार को नमस्कार करती है। व्यक्ति नहीं पूजा जाता, शक्ति पूजी जाती है। पूर्णिमा के चांद की पूजा नहीं होती, दूज का चांद पूजा जाता है। सीधी बात पर ध्यान नहीं जाता, वक्रोक्ति सहसा मन को खींच लेती है। कवित्व एक शक्ति है। वक्रोक्ति से बढ़कर और काव्य का क्या चमत्कार होगा?

आचार्य भिक्षु पीपाड़ में चौमासा कर रहे थे। वहां जग्गू गांधी उनके संपर्क में आया और उनका अनुयायी बन गया। कुछ लोगों ने कहा–'स्वामीजी! जग्गू गांधी आपका अनुयायी बना, इस बात से अमुक संप्रदाय वाले सभी लोगों को कष्ट हुआ है, पर खेतसी लूणावत को तो बहुत ही कष्ट हुआ है।' स्वामीजी बोले–'विदेश से मौत का समाचार आने पर चिंता सबको होती है, पर लंबी कांचुली तो एक ही पहनती है।'[१]

आचार्य भिक्षु व्याख्यान देते। कुछ लोगों को वह बहुत ही अच्छा लगता और कुछ उसका विरोध करते। विरोध करने वालों ने कहा–'भीखणजी व्याख्यान देते हैं तब रात एक प्रहर से बहुत अधिक चली जाती है।' आचार्य भिक्षु ने कहा–'सुख की रात छोटी लगती है, दु:ख की रात बड़ी। जिन्हें व्याख्यान सहन नहीं होता, उन्हें रात अधिक बड़ी लगती है।'[२]

एक व्यक्ति ने कहा–'स्वामीजी! इधर आप व्याख्यान देते जा रहे हैं और उधर सामने बैठे हुए लोग आपकी निंदा करते जा रहे हैं।' आचार्य भिक्षु ने कहा–'यह आदत की लाचारी है। झालर बजने पर कुत्ता भौंकता है। वह यह नहीं समझता है कि यह विवाह के अवसर पर बज रही है या किसी के मर जाने पर। निंदा करने वाला यह नहीं देखता कि ज्ञान की बात की जा रही है या कुछ और। उसका स्वभाव निंदा करने का है, सो कर लेता है।'[३]

तत्त्व की चर्चा में लंबाई होती है। काव्य की चर्चा लंबी नहीं होती। उसकी समाप्ति वह एक ही वाक्य कर देता है, जिसमें चुभने की क्षमता हो।

21. विवाद का अंत

एक रस्सी को पकड़कर दो आदमी खींचते हैं, एक इधर और एक उधर। परिणाम क्या होता है? रस्सी टूटती है। दोनों आदमी गिर जाते हैं। जो खिंचाव को मिटाता है, वह अपने को गिरने से उबार लेता है।

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, १७

२. भिक्खु दृष्टान्त, १८

३. वही, १९

दो साधुओं में खींचातानी हो गई। वे आचार्य भिक्षु के पास आए। एक ने कहा–'इसके पात्र में से इतनी दूर तक जल की बूंदे गिरती गईं।' दूसरे ने कहा–'नहीं, इतनी दूर तक नहीं गिरीं।' तीसरा कोई साथ में नहीं था। दोनों अपनी-अपनी बात पर डटे रहे। विवाद नहीं सुलझा तब आचार्य भिक्षु ने कहा–'तुम दोनों रस्सी लेकर जाओ और उस स्थान को मापकर आ जाओ।' रस्सी लेकर नापने की आज्ञा ने दोनों की व्यावहारिकता को जगा दिया। पहले ने कहा–'हो सकता है मेरे देखने में भूल रह गई हो।' दूसरे ने कहा–'हो सकता है मैंने दूरी को ठीक-ठीक नहीं पकड़ा होगा।' दोनों अपने-अपने आग्रह का प्रायश्चित्त कर गिरने से बच गए।[१]

दो साधु एक विवाद को लेकर आए। एक ने कहा– 'गुरुदेव! यह रसलोलुप है।' दूसरा बोला–'मैं नहीं हूं, रसलोलुपता इसमें है।' वाणी का यह विवाद कैसे निपटे? स्वामीजी के समझाने पर भी वे समझ नहीं सके। आखिर आपने कहा–'तुम दोनों मुझसे स्वीकृति लिए बिना विगय खाने का त्याग करो। जो विगय खाने की स्वीकृति पहले लेगा, वह कच्चा है और दूसरा पक्का।' दोनों ने आचार्य की आज्ञा को शिरोधार्य किया। चार मास तक उन्होंने दूध, दही, घी, मिठाई आदि कुछ नहीं खाया। पूरा चातुर्मास बीतने पर एक ने विगय खाने की स्वीकृति ली। विवाद की आंच मंद हो गई।[२]

'है' और 'नहीं' की चर्चा एक खतरनाक रस्सी है। इसमें हर आदमी के पैर उलझ जाते हैं। एक कहता है कि इसकी लंबाई-चौड़ाई इतनी है, दूसरा कहता है– 'नहीं, इतनी है।' एक कहता है–'हम आज नौ बजे सोए, दूसरा कहता है–'नहीं, हम सवा नौ बजे सोए।' ऐसे विवादों का कोई अर्थ भी नहीं है तो कोई अंत भी नहीं है। इसका अंत वही ला सकता है, जिसे अंतर की अनुभूति में स्वाद आ जाए।'

22. जिसे अपने पर भरोसा है

वहां सारी भाषाएं मूक बन जाती हैं, जहां हृदय का विश्वास बोलता है। जहां हृदय मूक होता है, वहां भाषा मनुष्य का साथ नहीं देती। जहां भाषा हृदय को ठगने का यत्न करती है, वहां व्यक्ति विभक्त हो जाता है। अखंड व्यक्तित्व वहां होता है, जहां भाषा और हृदय में द्वैध नहीं होता। आचार्य भिक्षु की आस्था बोलती थी। उनकी भावना एक ही देव की उपासना में सिमटी हुई थी।

१.भिक्खु दृष्टान्त, १६७

२. भिक्खु दृष्टान्त, १६८

यह देव कोई एक व्यक्ति नहीं, किंतु वे सब व्यक्ति, जो वीतरागमय हों, जिनके चारित्र में राग-द्वेष के धब्बे न हों। जिन्हें अपने पर भरोसा नहीं होता, वे अनेक देवों की पूजा करते हैं। उस समय के लोग भी भैरव, शीतला आदि अनेक देवों की मनौती करते थे। आचार्य भिक्षु इसे मानसिक दुर्बलता बताते। प्रवचन-प्रवचन में इसका खंडन करते।

एक दिन हेमराजजी स्वामी ने कहा—'गुरुदेव! आप इन लौकिक देवताओं की पूजा का खंडन करते हैं, पर कहीं वे कुपित हो गए तो?' आपने व्यंग्य की भाषा में कहा—'यह युग सम्यक् दृष्टि देवताओं का है। ये भैरव आदि कुपित होकर करेंगे भी क्या?'[१]

दूसरों पर अधिक भरोसा वही करता है, जिसे अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं है। मनुष्य जागकर भी सोता है, इसका मतलब है कि उसे अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं है। जिसे अपने पर भरोसा है, वह सबकुछ है।

23. पुरुषार्थ की गाथा

कहा जाता है—महापुरुषों की कार्य-सिद्धि उनके सत्त्व में होती है, उपकरणों में नहीं होती। प्राचीन खगोलशास्त्री कहते हैं—सूर्य का सारथी लंगड़ा है, फिर भी वह असीम आकाश की परिक्रमा कर लेता है। पौराणिक कहते हैं—'राम ने रावण को जीता और उनकी सहायता कर रही थी बंदर-सेना।'

आचार्य भिक्षु की साधन-सामग्री स्वल्पतम थी। एक बार उनके सहयोगी साधु छह ही रह गए। साध्वियां नहीं थीं। जैन-परंपरा में साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका- ये चार तीर्थ कहलाते हैं।

एक व्यक्ति ने कहा—'भीखणजी का लड्डू खंडित है—पूरा नहीं है।'

भिक्षु ने कहा—'पूरा भले मत हो, पर है असली 'चौगुणी' चीनी का।'[२]

कुछ वर्षों के पश्चात् साध्वियां बनीं।

एक बार तेरह साधु थे। इसे लक्षित कर एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु के संघ का नाम 'तेरापंथी' रख दिया। अपने विचारों का अनुगामी समाज होने की परिकल्पना उन्हें नहीं थी। एक संप्रदाय खड़ा करना उनका उद्देश्य भी नहीं था। वे आत्मशोधन के लिए चले थे। उनके साथ एक छोटी-सी मंडली थी। आचार्य भिक्षु संख्या को महत्त्व नहीं देते थे। उनका विश्वास गुणों में था। भारीमालजी उनके अनन्य सहयोगी और अनन्य विश्वासपात्र थे।

१. भिक्खु दृष्टान्त, २७९
२. भिक्खु दृष्टान्त, २२

'भारीमाल! हम आचार्य रुघनाथजी को छोड़ आए हैं। हमें नए सिरे से दीक्षा लेनी है। तुम्हारे पिता की प्रकृति बहुत उग्र है। हमें कठिनाइयों का सामना करना होगा। तुम्हारे पिता में उन्हें झेलने का सामर्थ्य नहीं है, इसलिए मैं उन्हें अपने साथ नहीं रख सकता। तुम्हारी क्या इच्छा है? आचार्य भिक्षु ने कहा—मेरे साथ रहना चाहते हो या अपने पिता के साथ?'

भारीमलजी ने दृढ़तापूर्वक आचार्य भिक्षु के साथ रहने की इच्छा व्यक्त की—'मुझे आप पर विश्वास है। साधुत्व में मेरी आस्था है। मेरे चरण आपके चरण-चिह्नों का ही अनुगमन करेंगे। मैं आपको छोड़कर कहीं नहीं जा सकता।'

आचार्य भिक्षु ने किसनोजी के सामने वही बात दोहराई। उन्होंने कहा—'आप मुझे साथ नहीं रखेंगे तो मेरा पुत्र भी आपके साथ नहीं रह सकेगा।'

आचार्य भिक्षु ने कहा—'यह रहा तुम्हारा पुत्र, मैं इसे कब रोकता हूं। तुम इसे ले जा सकते हो।' किसनोजी हठपूर्वक भारीमालजी को अपने साथ लेकर दूसरी जगह चले गए। भारीमालजी उस समय चौदह वर्ष के थे, पर उनकी आत्मा चौदह वर्ष की नहीं थी। उनके चिर-संचित संस्कार जाग उठे। पुत्र के सत्याग्रह के सामने पिता का आग्रह टूट गया। वे अपने पुत्र को साथ लिए आचार्य भिक्षु के निकट आए। नम्रभाव से कहा—'गुरुदेव! यह आप ही की संपत्ति है। इसे आप ही संभालें। यह दो दिन का भूखा-प्यासा है। इसे आप भोजन कराएं, जल पिलाएं। यह आपसे बिछुड़कर जीवन-पर्यंत अनशन करने पर तुला हुआ है। यह मेरे साथ नहीं रहना चाहता।'[१]

फल में जो होता है, वह सारा का सारा बीज में होता है। बीज आकार में ही छोटा होता है, प्रकार में नहीं। तेरापंथ के विकास का बीज आचार्य भिक्षु का जीवन था। उनके जीवन में समस्त-पद की वह सफलता है, जिसमें अनेक विभक्तियां लीन हों। उनके जीवन में सिंधु की वह गहराई है, जिसमें असंख्य सरिताएं समाहित हो सकती हैं।

उनके जीवन में क्षमा, बुद्धि, परीक्षा आदि ऐसे विशेष मनोभावों का संगम था, जो सहज ही एक धर्म-क्रांति की भूमि का निर्माण कर सका।

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, २०२

2. प्रतिध्वनि

1. धर्म-क्रांति के बीज

यह उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण की घटना है। राजपूताना की मरुस्थली में एक धर्म-क्रांति हुई। भारतीय परंपरा में धर्म राजनीति से भिन्न रहा, इसलिए राज-व्यवस्था पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। समाज-व्यवस्था भी धर्म द्वारा परिचालित नहीं थी, इसलिए उस पर भी उसका प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा, किंतु समाज में रहने वाले उससे सर्वथा अछूते कैसे रह सकते थे? परंपरा के पोषक इसको सहन नहीं कर सके। उन्होंने आचार्य भिक्षु को विद्रोही घोषित कर दिया। इस धर्म-क्रांति का निकट संबंध जैन-परंपरा से था। विरोध की चिनगारी वहीं सुलगी। आचार्य भिक्षु एवं उनके नवजात तेरापंथ पर तीव्र प्रहार होने लगे।

प्रहार करना आत्मसंयम की कमी का प्रतीक है। अप्रिय परिस्थिति बनने पर ही व्यक्ति के संयम का मूल्यांकन होता है। आचार्य भिक्षु जिस परंपरा से मुक्त हुए, उसके लिए यह अप्रिय घटना थी और उनका उसके प्रति प्रहार करना भी अस्वाभाविक नहीं था। वह वैसे ही हुआ, पर वह एक अमिट लौ थी। हवा के झोंके उसे बुझा नहीं सके। उसे जिनवाणी का स्नेह और संयम की सुरक्षा प्राप्त थी। प्रतिरोध के उपरांत भी वह प्रदीप्त होती गई। उसके आलोक में लोगों को 'तेरापंथ' की झांकी मिली।

तेरापंथ और आचार्य भिक्षु आज भी भिन्न नहीं हैं, किंतु उस समय तो आचार्य भिक्षु ही तेरापंथ और तेरापंथ ही आचार्य भिक्षु थे। तेरापंथ एक विस्फोट है। महावीर-वाणी के कुछ बीज तेरापंथ की भूमिका में प्रस्फुटित हुए, वैसे संभवत: पहले नहीं हुए। तेरापंथ महावीर की अहिंसा का महाभाष्य है। उस महाभाष्य की कुछ पंक्तियां आज राजनीति की भूमिका में प्रत्यावर्तन पा रही हैं। समाज भी उन्हें मान्यता दे रहा है। वह शाश्वत-सत्य, जिसकी भगवान महावीर ने अनुभूति की और जिसे आचार्य भिक्षु ने अभिव्यक्ति दी, आज युग की भाषा में बोल रहा है।

उस समय बड़े जीवों की रक्षा के लिए छोटे जीवों के वध को पुण्य माना जाता था। अहिंसा के क्षेत्र में भी बल-प्रयोग मान्य था। पुण्य के लिए धर्म करना भी सम्मत था। अशुद्ध साधन के द्वारा भी शुद्ध साध्य की प्राप्ति मानी जाती थी और दान मात्र को पुण्य माना जाता था।

आचार्य भिक्षु ने इन मान्यताओं की आलोचना की। बड़े-छोटे के प्रश्न पर उन्होंने सब जीवों की समानता की बात याद दिलाई। बल-प्रयोग के स्थान पर हृदय-परिवर्तन की पुष्टि की। उन्होंने कहा–'धर्म करने पर पुण्य स्वयं होता है, पर पुण्य करने के लिए धर्म करना लक्ष्य से दूर जाना है। शुद्ध साध्य की प्राप्ति शुद्ध साधनों के द्वारा ही हो सकती है और दान का अधिकारी केवल संयमी है, असंयमी नहीं।' उस समय इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई, यह बताने से पूर्व यह बताना आवश्यक है कि ये विचार युग की भाषा में कैसे प्रतिध्वनित हो रहे हैं।

'सब मनुष्य समान हैं'–यह इस युग का प्रमुख घोष है। बड़ों के लिए छोटों के बलिदान की बात आज निष्प्राण हो चुकी है।

समझा-बुझाकर बुराई को दूर किया जाए, इस हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत पर मनोविज्ञान की छाप लग चुकी है। आज अपराधियों के लिए भी दंड-व्यवस्था की अपेक्षा सुधार की व्यवस्था पर अधिक ध्यान दिया जाता है। आज के सभ्य राष्ट्र फांसी की सजा को मिटा रहे हैं और अपराध-सुधार के मनोवैज्ञानिक उपायों पर ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं। महात्मा गांधी ने हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत पर लगभग उतना ही बल दिया, जितना कि आचार्य भिक्षु ने दिया था। इन दोनों धाराओं में अद्‌भुत सामंजस्य है।

'यह तो कहीं नहीं लिखा है कि अहिंसावादी किसी आदमी को मार डाले, उसका रास्ता तो बिल्कुल सीधा है। एक को बचाने के लिए वह दूसरों की हत्या नहीं कर सकता। उसका पुरुषार्थ एवं कर्तव्य तो सिर्फ विनम्रता के साथ समझाने-बुझाने में है।'[१]

पं. नेहरू की यह भाषा कि अधिकार के लिए प्रयत्न न हो, वह हो कर्तव्य के लिए अधिकार स्वयं प्राप्त होता है। वैसे ही पुण्य के लिए धर्म न हो, वह आत्मशुद्धि के लिए हो, पुण्य स्वयं प्राप्त होता है।

साम्यवादी लक्ष्य की पूर्ति के लिए अशुद्ध साधनों को भी स्वीकार करते हैं, लेकिन असाम्यवादी राजनयिक उनकी आलोचना करते हैं। वे अशुद्ध साधनों के प्रयोग को उचित नहीं मानते।

१. हिन्द स्वराज्य, पृ. ७५-७६

साध्य के सही होने पर भी अगर साधन गलत हों तो वे साध्य को बिगाड़ देंगे या उसे गलत दिशा में मोड़ देंगे। इस तरह साधन और साध्य में गहरा और अटूट संबंध है। वे दोनों एक-दूसरे से अलग किए नहीं जा सकते हैं।[१]

दान सामाजिक तत्त्व है। वर्तमान समाज-व्यवस्था में उसके लिए कोई स्थान नहीं, यह समाज-सम्मत हो चुका है। दान के स्थान पर सहयोग की चर्चा चल पड़ी है। दुनिया में शारीरिक श्रम के बिना भिक्षा मांगने का अधिकार केवल सच्चे संन्यासी को है, जो ईश्वर-भक्ति के रंग में रंगा हुआ है।[२]

आचार्य भिक्षु अध्यात्म की भूमिका पर बोलते थे। उनका चिंतन मोक्ष की मान्यता के साथ-साथ चलता था। राजनीति की भूमिका उससे भिन्न है और उसका साध्य भी भिन्न है। इस भूमिका भेद को ध्यान में रखकर हम सुनें तो हमें यही अनुभव होगा कि वर्तमान युग उसी भाषा में बोल रहा है, जिसमें आचार्य भिक्षु बोलते थे। आज उन तथ्यों की घोषणा हो रही है, जिनकी आचार्य भिक्षु ने अभिव्यक्ति दी थी।

2. साधना के पथ पर

इस अभिव्यक्ति का इतिहास ज्वलंत साधना और कठोर तपस्या का इतिहास है। आचार्य भिक्षु अभिव्यक्ति देने नहीं, किंतु सत्य की उपलब्धि के लिए चले थे। ईसा को फांसी और सुकरात को विष की प्याली ही नहीं मिली थी, कुछ और भी मिला था। आचार्य भिक्षु को रोटी-यातना ही नहीं मिली थी, सत्य भी मिला था। प्रायः पांच वर्ष तक उन्हें पेट भर भिक्षा नहीं मिली। एक व्यक्ति ने पूछा—'महाराज! घी, गुड़ मिलता होगा?' आपने उत्तर दिया—'पाली के बाजार में कभी-कभी दीख पड़ता है।'[३]

तेरापंथ की स्थापना उनका लक्ष्य नहीं था। उनका लक्ष्य था संयम की साधना। वे उस मार्ग पर चलने के लिए मृत्यु का वरण करने से भी नहीं हिचकते थे।[४] उनके तथ्यों को लोग पचा सकेंगे, उनकी यह धारणा नहीं थी। उनके विचारों को मान्यता देने वाला कोई समाज होगा, यह कल्पना उन्हें नहीं थी। उनके पास जाना, उनसे धर्म-चर्चा करना सामाजिक अपराध था। लोग उनका

१. सर्वोदय का सिद्धान्त, पृ. १३
२. विनोबा के विचार, पृ. १२०
३. भिक्षु जश रसायण, १०, सोरठा १
पंच वर्ष पहिछाण रे, अन पिण पूरो नां मिल्यो।
बहुल पणै वच जाण रे, घी चौपड़ तौ जिहांई रह्यो।
४. वही, ६

विरोध करने में लीन थे। वे अपनी तपस्या करने में संलग्न थे। सतत विरोध और तपस्या ने एक तीसरी स्थिति उत्पन्न की। जनमानस में आचार्य भिक्षु के महान व्यक्तित्व के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई। लोग रात में या एकांत में छिप-छिपकर आने लगे, पर आचार्य भिक्षु अभिव्यक्ति से दूर अपनी साधना में ही रत थे। दो मुनि आए, जो पिता और पुत्र थे। उनका नाम था–थिरपाल और फतेचन्द। वे हाथ जोड़कर बोले–गुरुदेव! उपवास हम करेंगे, सूर्य की गर्मी से तपी हुई नदी की सिकता में हम लेटेंगे, आप ऐसा मत करें। आपकी प्रतिभा निर्मल है। आपसे सत्य की अभिव्यक्ति होगी। लोगों में जिज्ञासा जागी है। आप उन्हें प्रतिबोध दें। उनका विनय-भरा अनुरोध उन्होंने स्वीकार किया और मौन को उपदेश में परिणत कर दिया। अपने ध्येय के प्रति आचार्य भिक्षु की गहरी निष्ठा थी। उसी से उनमें तितिक्षा का उदय हुआ। उन्होंने बहुत सहा, शारीरिक कष्ट सहे, तिरस्कार सहा, गालियां सहीं और कभी-कभी घूंसे भी सहे। ठहरने के लिए स्थान की कठिनाई थी। लोग पीछे पड़ रहे थे। नाथद्वारा की घटना है–वे चातुर्मास कर रहे थे। दो मास व्यतीत हुए और राजा का आदेश हुआ कि वे वहां से चले जाएं। उनके शेष दो मास 'कोठारिया' गांव में व्यतीत हुए।

घाणेराव के कई व्यक्ति मिले। उन्होंने पूछा–'तुम कौन हो?' आचार्य भिक्षु ने कहा–'मैं भीखण हूं। 'ओह! अनर्थ हो गया'। उन्होंने पूछा–'सो कैसे?' वे बोले–'तुम्हारा मुंह देखने वाला नरक में जाता है।' आचार्य भिक्षु ने कहा– 'तुम्हारा मुंह देखने वाला तो स्वर्ग में जाता होगा?' उन्होंने स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया। आचार्य भिक्षु ने कहा–'तुम्हारे लिए अच्छा नहीं हुआ, मेरे लिए तो अच्छा ही हुआ है, मुझे तो स्वर्ग ही मिलेगा, क्योंकि तुम्हारा मुंह देखा है।'[१]

उदयपुर में एक व्यक्ति आया और कहने लगा-मुझसे तत्त्वचर्चा का कोई प्रश्न पूछो? आचार्य भिक्षु ने नहीं पूछा। बार-बार अनुरोध किया, तब पूछा–तुम समनस्क हो या अमनस्क? उसने कहा–'समनस्क'। आचार्य ने पूछा–कैसे? उसने कहा–नहीं, मैं अमनस्क हूं, फिर पूछा–'किस न्याय से'? वह बोला– 'नहीं, मैं दोनों ही नहीं हूं।' आपने कहा–'वह फिर किस न्याय से?' वह बोला–'नहीं, दोनों ही हूं,' फिर पूछा– वह किस न्याय से? वह इस न्याय-न्याय से रुष्ट होकर छाती में घूंसा मार चलता बना।[२]

तेरापंथ की शांतिपूर्ण नीति आचार्य भिक्षु की तितिक्षा की ही परिणति है।

१. भिक्खु दृष्टान्त, १५

२. वही, ४७

इन दो शताब्दियों में तेरापंथ की उत्तेजनापूर्ण और निम्नस्तर की आलोचना कुछ संप्रदाय के व्यक्तियों ने की, प्रचुर मात्रा में विरोधी साहित्य भी निकला, पर इन पूरे दो सौ वर्षों में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है कि विरोध का प्रत्युत्तर उत्तेजनापूर्ण ढंग से दिया गया हो या विरोधपूर्ण दो पंक्तियां ही प्रकाशित की हों।

शांतिपूर्ण नीति से क्रियात्मक शक्ति का बहुत ही अर्जन हुआ है, इसका श्रेय आचार्य भिक्षु की ध्येय-निष्ठा को है।

संसार से आचार्य भिक्षु की सच्ची विरक्ति थी। उनकी दृष्टि में वह बुद्धि असार है, जो धर्म में लीन नहीं होती। उन्होंने जो धर्म-चर्चा की, वह मोक्ष को केन्द्र-बिंदु मानकर की। समाज की भूमिका पर खड़े व्यक्ति को उसमें कहीं-कहीं अतिवाद या वैराग्य के अंतिम छोर को पकड़ने जैसा लगता है। यद्यपि समाज के पारस्परिक सहयोग का लोप करना उनका उद्देश्य नहीं था, फिर भी 'आपातदर्शन' में पाठक को ऐसा अनुभव होता है कि वे सामाजिक सहयोग का निरसन कर रहे हैं। गहराई में जाने पर अनुभव होता है कि वे मोक्ष-धर्म और जीवन-व्यवहार के बीच भेदरेखा खींच रहे हैं। धर्म का आधार विरक्ति है और उसकी परिणति है त्याग। त्याग उतना ही होता है, जितनी विरक्ति होती है। विरक्ति शून्य त्याग, त्याग ही नहीं होता है और यह भी नहीं होता कि विरक्ति हो और त्याग न हो। सब जीवों का मनोभाव समान नहीं होता। किसी की पदार्थों में अनुरक्ति होती है और किसी की विरक्ति। अनुरक्त के विचार विरक्त को अद्भुत-से लगते हैं और विरक्त के विचार अनुरक्त को। यह अद्भुतता सापेक्ष है। अपनी-अपनी स्थिति में कोई अद्भुत नहीं है।

3. चिंतन की धारा

पांव के रोगी को खुजलाना अच्छा लगता है, पर जिसे पांव का रोग नहीं है उसे वह अच्छा नहीं लगता। जिसमें मोह है, उसे भोग प्रिय लगता है। जो मोह के जाल से दूर है, उसे लगता है भोग मोक्ष की बाधा है।[१] अनुभूति भिन्न होती है और उसका हेतु भी भिन्न होता है। हमारी अनुभूति आत्म-मुक्ति की ओर झुकी हुई होगी तो हम आचार्य भिक्षु के चिंतन को यथार्थ पाएंगे और हमारी

---

१. नव पदारथ : १२.४-५

पांव रोगीलो हुवें छें तेहनें रे, अनंत मीठी लागें छें खाज रे।
एहवा सुख रोगीला छें पुन तणा रे, तिण सूं कदेय न सीझे आतम काज रे॥
एहवा सुखां सूं जीव राजी हुवें रे, तिणरे लागें छें पाप करम रा पूर रे।
पछें दुःख भोगवें छें नरक निगोद में रे, मुगति सुखां सूं पडीयो दूर रे॥

अनुभूति पदार्थोन्मुख होगी तो वह हमें अटपटा-सा लगेगा। आचार्य भिक्षु की वाणी है—जो सांसारिक उपकार हैं, वे मोहवश किए जाते हैं। सांसारिक जीव उनकी प्रशंसा करते हैं, साधु उनकी सराहना नहीं करते। इन सांसारिक उपकारों में जिन-धर्म का अंश भी नहीं है। जो इनमें धर्म बतलाते हैं, वे मूढ़ हैं।[१] यह धार्मिक तथ्य है। इसकी अभिव्यक्ति करते हुए उनकी अंतरात्मा में कभी कंपन नहीं हुआ। सांसारिक उपकार में जो व्यावहारिक लाभ है, उसकी उन्हें स्पष्ट अनुभूति थी। उसका उन्होंने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। जो व्यक्ति किसी जीव को मृत्यु से बचाता है, उसके साथ उसका स्नेह-बंध हो जाता है।

इस जीवन में ही नहीं, किंतु आगामी जन्म में भी उसे देखते ही स्नेह उत्पन्न होता है।[२] जो व्यक्ति किसी जीव को मारता है, उसके साथ उसका द्वेष-बंध हो जाता है, पर-जन्म में भी उसे देखकर द्वेष-भाव उभर आता है।[३] मित्र के साथ मित्रता और शत्रु के साथ शत्रुता चलती रहती है। ये दोनों राग-द्वेष के भाव हैं, धर्म नहीं हैं।[४] कोई अनुकंपावश किसी का सहयोग करता है और कोई किसी के कार्य में विघ्न डालता है। ये राग और द्वेष के मनोभाव हैं। इनकी परंपरा बहुत लंबी होती है। आत्म-मुक्ति का सहयोग ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के द्वारा ही किया जा सकता है।[५]

---

१. अणुकम्पा री चौपई : ११.३८-३९
जितला उपगार संसार तणां छें, जे जे करें ते मोह बस जांणों।
साध तो त्यानें कदे न सरावें, संसारी जीव तिणरा करसी बखांणों॥
संसार तणां उपगार कीयां में, जिण धर्म रो अंस नहीं छे लिगार।
संसार तणां उपगार कीयां में, धर्म कहें ते तो मूंढ गिंवार॥

२. वही, ११.४३ :
जीव नें, जीवां बचावें तिण सूं, बंध जाअें तिणरों राग सनेह।
जो पर भव में ऊ आय मिलें तो, देखत पांण जागे तिण सूं नेह॥

३. अणुकम्पा री चौपई, ११, ४४ :
जीव नें जीव मारें छें तिण सूं, बंध जाअें तिण सूं धेष वशेख।
ते पर भव में उ आय मिलें तो, देखत पांण जागें तिण सूं धेष॥

४. वही, ११, ४५ :
मित्री सूं मित्रीपणों चलीयों जावें, वेंरी सूं वेंरीपणों चलीयों जावें।
अें तो राग धेष कर्मां रा चाला, ते श्री जिण धर्म मांहें नहीं आवें॥

५. वही, ११.४६, ५०
कोइ अणुकम्पा आंणी घर मंडावें, कोइ मंडता घर ने देवें भंगाय।
ओ प्रतख राग नें धेष उघाडो, ते आगें लगा दोनूं चलीया जाय॥
कहि-कहि नें कितरोंएक कहूं, संसार तणा उपगार अनेक।
ग्यांन दरसण चारित नें तप विनां, मोष तणों उपगार नहीं छें एक॥

एक दिन मुनि खेतसीजी को अतिसार हो गया। आचार्य भिक्षु उनकी परिचर्या में बैठे थे। खेतसीजी कुछ स्वस्थ हुए। उन्होंने स्वामीजी से कहा–सती रूपांजी का विशेष ध्यान रखना। आपने कहा–बहन की चिंता मत करो। तुम अपना मन समाधि में रखो।[१] उन्होंने अंतिम समय में मुनि रायचन्द जी को यही सीख दी–'तुम बालक हो। मोह मत लाना।' चौबीस वर्ष की युवावस्था में भिक्षु अपनी पत्नी-सहित ब्रह्मचारी बन गए और दोनों ही एकांतर तप (एक दिन उपवास और एक दिन आहार) करने लगे। बीच में पत्नी का देहांत हो गया। आप अकेले ही मुनि बने, अपने साध्य की सिद्धि के लिए सतत जागरूक रहे।

4. नैसर्गिक प्रतिभा

आचार्य भिक्षु सहज प्रतिभा के धनी थे। उन्हें पढ़ने को बहुत कम मिला। मनचाही प्रतियां सुलभ नहीं थीं। वह प्रकाशन का युग नहीं था। उन्हें सब जैन आगम भी उपलब्ध नहीं थे। उन्हें 'भगवतीसूत्र' की प्रति बड़े प्रयत्न के बाद मिली। उन्होंने आगमों को अनेक बार पढ़ा, आगम उनके हृदयंगम से हो गए। उन्होंने गंभीर तत्त्वों को बड़े सरल ढंग से समझाया। प्रश्नों का समाधान भी वे बड़े अनोखे ढंग से देते।

एक व्यक्ति उनसे चर्चा कर रहा था। उसकी बुद्धि स्वल्प थी। लोगों ने बहुत आग्रह किया कि आप इसे समझाएं। आपने कहा–मूंग, मोठ और चने की दाल होती है, पर गेहूं की दाल कैसे हो? जिसमें समझने की क्षमता ही नहीं, उसे कोई कैसे समझाए?[२]

किसी ने कहा–'समझदार व्यक्ति बहुत हैं, पर तत्त्व को समझने वाले थोड़े क्यों?' आपने कहा–'मूर्ति बनाने योग्य पत्थर बहुत हैं, पर कारीगर कम हैं।'[३]

एक व्यक्ति ने पूछा–'जीव को नरक में कौन ले जाता है?' आपने उत्तर दिया– 'पत्थर को नीचे कौन ले जाता है? वह अपने ही भार से नीचे चला जाता है।' प्रश्न आगे बढ़ा- 'जीव को स्वर्ग में कौन ले जाता है?' उत्तर मिला– 'काठ के टुकड़े को जल में कौन तिराता है? वह अपनी लघुता से स्वयं तैरता है। पैसे को पानी में डालो, वह डूब जाएगा। उसी को तपाकर-पीटकर कटोरी बना लो, वह पानी पर तैरने लगेगी।'[४]

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, २५३
२. वही, १५७
३. वही, १५८
४. वही, १४१-१४२-१४३

चिंतन उनके लिए भार नहीं था, किंतु उनके चिंतन में गुरुत्व था। उनकी चर्या में भी चिंतन था। एक व्यक्ति ने कहा–आप वृद्ध हैं, प्रतिक्रमण (आलोचना) बैठे-बैठे किया करें। आपने कहा–मैं खड़ा-खड़ा करता हूं तो आने वाले साधु बैठे-बैठे तो करेंगे, यदि मैं बैठा-बैठा करूं तो संभव है, आने वाले साधु लेटे-लेटे करने लगें।[1]

उनकी अनुभूति बड़ी तीव्र थी। वे परिस्थिति का अंकन बड़ी गहराई से करते थे। एक दिन स्वामीजी के साथ कोई व्यक्ति तत्त्व-चर्चा कर रहा था। बीच-बीच में वह अंट-संट भी बोलता था। किसी ने कहा–'आप उस व्यक्ति से क्यों चर्चा करते हैं, जो अंट-संट बोलता है?' आपने कहा–'बेटा नन्हा होता है तब वह पिता की मूंछ भी खींच लेता है, पगड़ी भी बिखेर देता है, किंतु बड़ा होने पर वही पिता की सेवा करेगा। जब तक यह मुझे नहीं पहचान लेता है, तब तक बकवास करता है। मुझे समझ लेने पर यही मेरी भाव-भरी भक्ति करेगा।'[2]

वे अपनी कार्य-प्रणाली में स्वतंत्र चिंतन उंडेलते रहते थे। अनुकरण-प्रियता उन्हें लुभा न सकी। अनुकरण करने वालों की स्थिति का चित्र उनकी 'दृष्टांत-शैली' में इस प्रकार है–'एक साहूकार में व्यापारिक समझ नहीं थी। वह पड़ोसी की देखा-देखी करता। पड़ोसी जो वस्तु खरीदता, उसे वह भी खरीद लेता। पड़ोसी ने सोचा–यह मेरी देखा-देखी करता है या इसमें अपनी समझ भी है। उसने उसे परखना चाहा और अपने बेटे से कहा–पंचांगों का भाव तेज है, उन्हें खरीद लो। थोड़े दिनों में दूने दाम हो जाएंगे। पड़ोसी ने सुना और विदेशों से पंचांग मंगवा लिए। दिवाला निकालना पड़ा।'[3]

वे मूल को बहुत महत्त्व देते थे। आचारहीनता उनके लिए असह्य थी। उससे भी अधिक असह्य थी श्रद्धाहीनता। कुछ व्यक्तियों ने कहा–भीखणजी हमें साधु या श्रावक नहीं मानते। आपने इस प्रसंग को समझाते हुए कहा–कोयलों की राब काले बर्तन में पकाई गई, अमावस की रात, जीमनेवाले अंधे और परोसने वाले भी अंधे। वे खाते जाते हैं और कहते हैं– 'खबरदार! कोई काला 'कोंखा' आए तो टाल देना। भला क्या टाले, सारा काला ही काला है।'[4]

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, २१२

२. वही, २८७

३. वही, २८८

४. वही, १४३

5. हेतुवाद के पथ पर

आचार्य भिक्षु तार्किक-शक्ति से संपन्न थे। उन्होंने साध्य-साधन का विवेक केवल आगमों के आधार पर ही नहीं किया, स्थान-स्थान पर उसे तर्क से भी पुष्ट किया है। धर्म को कसौटी पर कसते हुए उन्होंने बताया–धर्म मुक्ति का साधन है। मुक्ति का साधन मुक्ति ही हो सकती है, बंधन कभी उसका साधन नहीं होता। बंधन भी यदि मुक्ति का साधन हो जाए तो बंधन और मुक्ति में कोई भेद ही न रहे। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के सिवाय कोई मुक्ति का उपाय नहीं है,[१] इसलिए ये चार ही धर्म हैं। शेष सब बंधन के हेतु हैं। जो बंधन के हेतु हैं, वे मोक्ष-धर्म नहीं हैं।[२] धर्ममुक्ति का साधन है और स्वयं मुक्ति है, इसलिए कहा जा सकता है कि मुक्ति, मुक्ति के द्वारा ही प्राप्य है, बंधन के द्वारा बंधन होता है। उसके द्वारा मुक्ति प्राप्य नहीं है। बंधन अनादि परिचित है और मुक्ति अपरिचित है।[३] संसारी जीव बंधन की प्रशंसा करते हैं, किंतु मुमुक्षु प्राणी उसकी सराहना नहीं करते।[४]

संसार क्या है? शरीर आत्मा का संबंध ही संसार है। सूक्ष्म शरीर (कार्मण शरीर) के द्वारा स्थूल शरीर की पुनरावृत्ति होती रहती है। इन्द्रिय और मन के विषयों का ग्रहण होता है। प्रिय में राग और अप्रिय में द्वेष होता है। राग-द्वेष से कर्मबंध और बंध से जन्म-मरण की आवृत्ति होती है। इस प्रकार की संसार की आवृत्ति होती रहती है।

मोक्ष क्या है? सूक्ष्म शरीर से मुक्ति। उसके बिना स्थूल शरीर नहीं होता। उसके अभाव में इन्द्रिय और मन नहीं होते। इनके बिना विषय-ग्रहण नहीं होता। उसके अभाव में राग-द्वेष नहीं होते। राग-द्वेष के बिना कर्मबंधन नहीं होता। बंधन के बिना संसार नहीं होता, जन्म-मरण की आवृत्ति नहीं होती। मोक्ष से संसार नहीं होता और संसार से मोक्ष नहीं होता, इसलिए मोक्षार्थी व्यक्ति को न जन्म की इच्छा करनी चाहिए और न मृत्यु की। उसके लिए अभिलषणीय है संयम। संयम से जीवन-मृत्यु की आवृत्ति का निरोध होता है, इसलिए वह मोक्ष का उपाय है।

१. अणुकम्पा री चौपई, ४.१७

२. वही, ४.१८ :

जितरा उपगार संसार नां, ते तो सगलाइ सावद्य जांण हो।
श्री जिण धर्म में आवें नहीं, कूड़ी म करों तांण हो॥

३. जम्बूकुमार चरित, २.१५

४. अणुकम्पा री चौपई, ११.३८

जो असंयमी जीवन की इच्छा करता है, उसे धर्म का परमार्थ नहीं मिलता है।[१] असंयममय जीवन और बाल-मरण–ये दोनों अभिलषणीय नहीं हैं। संयममय जीवन और पंडित-मरण–ये दोनों अभिलषणीय हैं।[२] जिन्हें सब प्रकार से हिंसा करने का त्याग नहीं है, वे असंयमी हैं। संयमी वे हैं जिनका जीवन हिंसा से पूर्णतः विरत हो।[३]

लोक-दृष्टि में वह जीवन श्रेष्ठ है, जो समाज के लिए उपयोगी हो। मोक्ष-दृष्टि में वह जीवन श्रेष्ठ है, जो संयमी हो। असंयमी जीवन की इच्छा समाज की उपयोगिता हो सकती है, धर्म नहीं। आचार्य भिक्षु ने कहा–अपने असंयमी जीवन की इच्छा करना भी पाप है, तब दूसरे के असंयमी जीवन की इच्छा करना धर्म कैसे होगा? मरने-जीने की इच्छा अज्ञानी करता है। ज्ञानी वह है, जो समभाव रखे।[४]

आचार्य भिक्षु ने साध्य-साधन का विविध पहलुओं से स्पर्श करके एक सिद्धांत स्थापित किया–जो कार्य करना साध्य के अनुकूल नहीं है, उसे करवाना और करने वाले का अनुमोदन करना साध्य के अनुकूल नहीं हो सकता। कृत, कारित और अनुमति–ये तीनों अभिन्न हैं।

1. (क) जो कार्य करना धर्म है, उसे करवाना और उसका अनुमोदन भी धर्म है।

(ख) जो कार्य करवाना धर्म है, उसे करना और उसका अनुमोदन भी धर्म है।

(ग) जिसका अनुमोदन धर्म है, उसे करना और कराना भी धर्म है।

---

१. अणुकम्पा री चौपई, ८.१७ :
इविरती जीवां रो जीवणों वांछें, तिण धर्म रो परमारथ नहीं पायो।
आ सरधा अग्यांनी री पग पग अटके, ते सांभलजों भवियण चित ल्यायो॥

२. अनुकम्पा री चौपई, ६.३६ :
असंजम जीतब नें बाल मरण, यां दोयां री वंछा न करणी जी।
पिंडत मरण ने संजम जीतब, यांरी आसा वंछा मन धरणी जी॥

३. वही, ६.४० :
छ काय रा सस्त्र जीव इविरती, त्यांरो असंजम जीतब जांणो जी।
सर्व सावद्य त्याग किया त्यांरो, संयम जीतब एह पिछाणो जी॥

४. वही, २.१४ :
आपणोंई वांछें तो पाप, पर नो कुण घाले संताप।
घणों जीवणो वांछे अग्यांनी, समभाव राखें ते ग्यांनी॥

2. (क) जो कार्य करना धर्म नहीं, उसे करवाना और उसका अनुमोदन भी धर्म नहीं।

(ख) जो कार्य करवाना धर्म नहीं, उसे करना और उसका अनुमोदन भी धर्म नहीं।

(ग) जिसका अनुमोदन धर्म नहीं, उसे करना और कराना भी धर्म नहीं।

हिंसा करना पाप है, करवाना पाप है और उसका अनुमोदन भी पाप है।[1] अहिंसा का पालन करना धर्म है, करवाना धर्म है और उसके पालन का अनुमोदन करना भी धर्म है।

कुछ लोग कहते हैं कि मरते जीवों को बचाना धर्म है। आचार्य भिक्षु ने कहा– धर्म का संबंध जीवन या मृत्यु से नहीं है। उसका संबंध संयम से है। एक व्यक्ति स्वयं मरने से बचा, दूसरे ने उसके जीवित रहने में सहयोग दिया और तीसरा उसके जीवित रहने से हर्षित हुआ, इन तीनों में धर्मी कौन होगा? जो जीवित रहा, उसका भी अव्रत नहीं घटा और सहयोग करने वाले का भी व्रत नहीं बढ़ा, फिर ये धर्मी कैसे होंगे? जीना, जिलाना और जीने का अनुमोदन करना–ये तीनों समान हैं।[2]

जिनका खाना धर्म नहीं है, उसे खिलाना भी धर्म नहीं है और उसके खाने का अनुमोदन करना भी धर्म नहीं है। जिसका खाना धर्म है, उसे खिलाना भी धर्म है और उसका अनुमोदन करना भी धर्म है। आचार्य भिक्षु ने कर्तव्य के धर्माधर्म-पक्ष का निर्णय करने में उक्त तर्क-शैली का सर्वत्र उपयोग किया है। उन्होंने संयमी या मुनि को मानदंड मानकर सबको मापा। संयमी जिस कार्य का अनुमोदन कर सकता है, वह धर्म है, क्योंकि वह जिस कार्य का अनुमोदन कर सकता है, उसे कर भी सकता है और करा भी सकता है। वह जिस कार्य

---

१. अणुकम्पा री चौपई, ४, दू. २ :
मार्‌यां मरायां भलो जांणीयां, तीनूंई करणां पाप।
देखण वाला नें जे कहें, ते खोटा कुगुर सराप॥

२. वही, ५. २२-२५ :
एक पोतें बच्यों तें मरवा थकी, दूजे कीधो हो तिणरें जीवण रो उपाय।
तीजों पिण हरष्यों उण जीवीयां, यां तीनां में हो कुण सुध गति जाय॥
कुसले रह्यो तिणरें इविरत घटी नहीं, तो दूजा नें हो तुमें जांणजो एम।
भलो जांणें तिणरें विरत न नीपनीं, ए तीनूंई हो सुध गति जासी केम॥
जीवीयां जीवायां भलो जांणीयां, ए तीनूंई हो करण सरीषा जांण।
कोइ चतुर होसी ते परखसी, अणसमझ्या हो करसी तांणा तांण॥
छ काया रो वांछें मरणो जीवणों, ते तो रहसी हो संसार मझार।
ग्यांन दरसण चारित तप भला, आदरीयां हो आदरायां खेवो पार॥

का अनुमोदन नहीं कर सकता, वह धर्म नहीं है, क्योंकि जिस कार्य का वह अनुमोदन नहीं कर सकता, उसे कर भी नहीं सकता और करा भी नहीं सकता। संयमी असंयम और उसके साधनों का अनुमोदन नहीं कर सकता, इसलिए असंयम धर्म नहीं है। वह संयम और उसके साधनों का ही अनुमोदन कर सकता है, इसलिए संयम ही धर्म है। कुछ साधु बड़े जीवों की रक्षा के लिए छोटे जीवों को मारने में धर्म कहते थे। आचार्य भिक्षु ने आश्चर्य के स्वर में कहा–'जो साधु कृत, कारित और अनुमति, मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसक हैं, जीव मात्र की दया का पालन करते हैं, वे सभी जीवों के रक्षक होकर जीवों को मारने में किस न्याय से धर्म कहते है?[१] जीवों को मारकर जीवों का पोषण करना, यह संसार का मार्ग है, इसमें जो साधु धर्म बतलाते हैं, वे पूरे मूढ़ हैं, अज्ञानी हैं।[२] जो साधु जीव-हिंसा में धर्म बतलाते हैं, उनके तीन महाव्रतों का भंग होता है। जीव-हिंसा में धर्म बतलाना हिंसा का अनुमोदन है, इसलिए उनका अहिंसा महाव्रत भग्न होता है। भगवान ने हिंसा में धर्म नहीं कहा है। जीवों का पोषण करना अहिंसा धर्म नहीं, यह सत्य है। इसके विपरीत एक जीव के पोषण के लिए दूसरे जीव को मारना दया धर्म है, यह कहना असत्य है। इस दृष्टि से उनका दूसरा सत्य महाव्रत भग्न होता है।

जिन जीवों को मारने में धर्म की प्ररूपणा करते हैं, वे जीव अपने प्राणहरण की स्वीकृति नहीं देते और बिना अनुमति के उनके प्राण लेना चोरी है। जीवों को मारने में भगवान की आज्ञा नहीं है। जीवों को मारने में धर्म बतलाने वाले भगवान की आज्ञा की चोरी करते हैं, इसलिए उनका तीसरा अचौर्य महाव्रत टूटता है। इस प्रकार जीव-हिंसा में धर्म का प्ररूपण करने वालों के तीनों महाव्रत टूटते हैं।[३]

---

१. अणुकम्पा री चौपई, ६.४१ :

त्रिविधे त्राइ छ काय रा साध, त्यांरी दया निरंतर राखे जी।
ते छ काय रा पीहर छ काय नें मार्‌यां, धर्म किसें लेखे भाषें जी॥

२. वही, ६.२५ :

३. वही, ६.२६-३२ :

केइ साध रो विडद धरावें लोकां में, वले वाजें भगवंत रा भगता जी।
पिण हिंसा मांहें धर्म परूपें, त्यांरा तीन वरत भागें लगता जी॥
छ काय मार्‌यां मांहें धर्म परूपें, त्यांनें हिंसा छ काय री लागें जी।
तीन काल री हिंसा अणुमोदी, तिण सूं पेंहलो महावरत भागें जी॥
हिंसा में धर्म तो जिण कह्यों नांहीं, हिंसा धर्म कह्यां झूठ लागें जी।
इसडी झूठ निरंतर बोलें, त्यांरो बीजोइ महावरत भागें जी॥
ज्यां जीवां नें मार्‌यां धर्म परूपें, त्यां जीवां रो अदत्त लागो जी।
वले आग्या लोपी श्री अरिहंत नीं, तिण सूं तीजोई महावरत भागो जी॥

जीव-हिंसा में धर्म बताने वाले अपने को दया-धर्मी कहते हैं, पर वास्तव में वे हिंसा-धर्मी हैं।[1]

साध्य की मीमांसा में उन्होंने बतलाया–जीवों को बचाना, यह धर्म का साध्य नहीं है। एक व्यक्ति मरते जीवों को बचाता है और एक व्यक्ति जीवों को उत्पन्न कर उन्हें पाल-पोसकर बड़ा करता है। यदि धर्म होगा तो इन दोनों को होगा और नहीं होगा तो दोनों को नहीं। बचाने वाले की अपेक्षा उत्पन्न करने वाला बड़ा उपकारी है, किंतु ये दोनों संसार के उपकारी हैं। इन उपकारों में केवली भाषित धर्म नहीं है।[2]

आचार्य भिक्षु ने कहा सावद्य-दया धर्म नहीं है। तर्क की कसौटी पर कसते हुए उन्होंने कहा–धर्म का मूल दया या अहिंसा है। दान देने के लिए जीव-वध किया जाता है, उस सावद्य दान से दया उठ जाती है और जीवों को बचाने के लिए दया की जाती है, उस सावद्य दया से दान उठ जाता है। जो लोग सावद्य दान देने में और जीव बचाने में धर्म मानते हैं, उनके दान के सामने दया का सिद्धांत नहीं टिकता और उनकी दया के सामने दान का सिद्धांत नहीं टिकता। दान के लिए जीव वध करता है, उसके लिए दिल में दया नहीं रहती और दान देने के लिए वध किए जाने वाले जीवों को बचाता है तो दान नहीं होता।

सावद्य दान और सावद्य दया, ये दोनों मुक्ति के मार्ग नहीं हैं। सावद्य दान में जीवों का वध होता है, इसलिए वह मुक्ति का मार्ग नहीं है। जीवों की रक्षा के लिए सावद्य दान में रुकावट डाली जाए तो जिन्हें दान दिया जाता है, उनके जीवन निर्वाह में अंतराय होता है। इसलिए यह सावद्य दया भी मुक्ति

---

१. अणुकम्पा री चौपई, ६.३४ :
त्यांनें पूछ्यां कहें म्हें दयाधर्मी छां, पिण निश्चें छ काय रा घाती जी।
त्यां हिंसाधर्म्यां ने साध सरधे केइ, ते पिण निश्चें मिथ्याती जी॥

२. अनुकंपा की चौपई, ११.४०-४२ :
किण ही जीव नें खप कर नें बचायो, किण ही जीव उपजाय नें कीधो मोटों।
जो धर्म होसी तो दोयां नें धर्म होसी, जो तोटों होसी तो दोयां नें तोटों॥
बचावण वाला बिचें तो उपजावण वालों, सांप्रत दीसें उपगारी मोटों।
यांरो निरणो कीयां विण धर्म कहें छें, त्यांरो तो मत निकेवल खोटों॥
बचावण वालों नें उपजावण वालों, अें तो दोनूं संसार तणां उपगारी।
एहवा उपगार करें आमां साहमां, तिणमें केवली रो धर्म नहीं छें लिगारी॥

का मार्ग नहीं है।[1] सावद्य दान से दया की उत्थापना होती है और सावद्य दया से अभय दान का लोप होता है, इसलिए ये दोनों सांसारिक हैं।[2] जहां किसी की हिंसा नहीं होती, वहां दया और संयमी-दान ये ही मोक्ष के मार्ग हैं। भगवान ने इन्हीं को धर्म सम्मत कहा है।[3]

6. श्रद्धावाद के पथ पर

आचार्य भिक्षु के पास श्रद्धा का भी अमित बल था। वे जितने तार्किक थे, उतने ही श्रद्धालु। श्रद्धा और तर्क के संगम में ही व्यक्ति का दृष्टिकोण पूर्ण बनता है। कुसुंभा स्वयं गलकर दूसरों को रंगता है। भक्त-हृदय का गीलापन दूसरों को स्निग्ध कर देता है। आचार्य भिक्षु की अटल आस्था इस कोटि की है कि वे भगवान महावीर और उनकी वाणी पर स्वयं को न्यौछावर कर चलते हैं। उनके समर्पण की भाषा यह है–'प्रभो! आपने सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप को मुक्ति का मार्ग कहा है। मैं इनके सिवाय और किसी तत्त्व को धर्म नहीं मानता। मैं अर्हत् को देव, निर्ग्रंथ को गुरु और आपके द्वारा प्ररूपित मार्ग को ही धर्म मानता हूं। मेरे लिए और सब भ्रमजाल हैं। मेरे लिए आपकी आज्ञा ही सर्वोपरि प्रमाण है।'[4]

---

१. विरत इविरत री चौपई, १२.४४-४७ :
भेषधारी थापें सावद्य दांन नें, तिण दानं सूं दया उठ जाय हो।
वले दया कहे छ काय बचावीयां, तिण सूं दांन उथप गयों ताय हो॥
छ काय जीवां नें जीवां मार नें, कोइ दांन दें संसार रे मांय हो।
तिणरें तो छ काय जीवां तणी, घट में दया रहें नहीं कांय हो॥
कोइ दांन देंवे तिणनें वरज नें, जीवां बचावें छ काय हो।
ते जीव बचायां दांन उथपें, त्यांसू न्यारा रह्यां सुख थाय हो॥
छ काय जीवां नें मारे दांन दें, तिण दांन सूं मुगत न जाय हो।
वले फिर फिर बचावें छ काय नें, तिण सूं कर्म कटें नहीं ताय हो॥

२. विरत इविरत री चौपई, १२.४८ :
सावद्य दांन दीयां दया उथपें, सावद्य दया सूं उथपें अभय दानं हो।
ते सावद्य दया दांन संसार नां, त्यांनें ओलखें ते बुधवांन हो॥

३. वही, १२.४९ :
त्रिविधे त्रिविधे छ काय हणवी नहीं, आ थें दया कही जिण राय हो।
दांन देणों सुपातर नें कह्यों, तिण सूं मुगत सुखे सुखे जाय हो॥

४. वीर सुनो मोरी वीनती : १.६-७
अध्येन अठाबीसमां उत्तराध्येन में, मोक्ष मार्ग कह्या च्यार।
ग्यान दर्शन चरित्र नें तप बिना नहिं श्रद्धूं धर्म लिगार॥
देव अरहंत निर्ग्रंथ गुरु मांहरे, केवली ए भाषित धर्म।
ए तीनूंई तत्व सेंठाकर झालीया, और छोड़ दिया सहु भर्म॥

'जिसने आपकी आज्ञा को पहचान लिया, उसने आपके मौन को पहचान लिया। जिसने आपके मौन को पहचान लिया, उसने आपको पहचान लिया। जिसने आपको पहचान लिया, वह दुर्गति से बच गया। जिसने आपकी आज्ञा को नहीं पहचाना, उसने आपके मौन को नहीं पहचाना। जिसने आपके मौन को नहीं पहचाना, उसने आपको नहीं पहचाना। जिसने आपको नहीं पहचाना, वह दुर्गति से नहीं बचता। कुछ लोग आपकी आज्ञा के बाहर भी धर्म कहते हैं और आपकी आज्ञा में भी पाप कहते हैं। वे दोनों ओर से डूब रहे हैं। आपका धर्म आपकी आज्ञा में है। आपकी आज्ञा के बाहर आपका धर्म नहीं है। जो जिन-धर्म को जिन-आज्ञा के बाहर बतलाते हैं, वे मूढ़ हैं। आप अवसर देखकर बोले और अवसर देखकर मौन रहे। जिस कार्य में आपकी आज्ञा नहीं है, उस कार्य में धर्म नहीं है।'[१]

सूरदास और मीरां के सर्वस्व कृष्ण तथा तुलसी के सर्वस्व राम थे, वैसे ही भिक्षु के सर्वस्व महावीर थे। वे स्वयं को महावीर का संदेशवाहक मानते थे। एक बार एक व्यक्ति ने पूछा—'महाराज! आप इतने जनप्रिय क्यों हैं?' आपने कहा—'एक पतिव्रता स्त्री थी। उसका पति विदेश में था। बहुत दिनों से पति का कोई समाचार नहीं मिला। एक दिन अकस्मात् एक समाचारवाहक आया और उसे उसके पति का संदेश दिया। उसे अपार हर्ष हुआ। उसके लिए वह आकर्षण का केन्द्र बन गया। हम भगवान के संदेशवाहक हैं। लोग भगवान के भक्त हैं, भगवान का संदेश सुनने के लिए आतुर हैं। हम गांव-गांव में जाते हैं और लोगों को भगवान का संदेश सुनाते हैं। हमारे प्रति जनता के आकर्षण का यही हेतु है।'[२]

---

१. विरत इविरत री चौपई, १२.३९-४३ :

जिण ओलख लीधी आपरी आगन्यां, जिण ओलख लीधी आपरी मूंन हो।
तिण आप नें पिण ओलखे लीया, तिणरी टलगी माठी माठी जूंन हो॥
जिण आग्या न ओलखी आपरी, आपरी नहीं ओलंखी मूंन हो।
तिण आपनें ओलख्या नहीं, तिणरें बधसी माठी माठी जूंन हो॥
केइ जिण आगन्यां बारें धर्म कहें, जिण आग्या मांहे कहें छें पाप हो।
ते दोनूं विध बूड़ें छें बापड़ा, कूड़ों कर कर अग्यांनी विलाप हो॥
आपरो धर्म आपरी आग्या मझे, आपरो धर्म नहीं आपरी आग्या बार हो।
जिण धर्म जिण आग्या बारें कहें, ते पूरां छें मूंढ गिंवार हो॥
आप अवसर देखी नें बोलीया, आप अवसर देखे साझी मूंन हो।
जिहां आप तणी आगन्यां नहीं, ते करणी छे जाबक जबूंन हो॥

२. भिक्खु दृष्टान्त, ८७

आचार्य भिक्षु की श्रद्धा आलोचक बुद्धि से जुड़ी हुई थी। उन्होंने अनेक गुरुओं को देखा-परखा। आखिर स्थानकवासी संप्रदाय के आचार्य रुघनाथजी को अपना गुरु चुना। उनके पास मुनि दीक्षा स्वीकार की। आठ वर्ष तक उनके संघ में रहे। चालू परंपरा और आचार में कुछ मतभेद हुआ। साध्य और साधन की विचारधारा नहीं मिल सकी। फलतः वे अपने आचार्य से पृथक् हो गए। गुरु का उनके प्रति स्नेह था और उनका गुरु के प्रति, फिर भी आलोचक बुद्धि आचार-भेद को सहन न कर सकी। वे अपने आचार्य के प्रति कृतज्ञ रहते हुए भी उनके विचारों की समीक्षा किए बिना नहीं रहे।

भगवान महावीर से बढ़कर उनके लिए कोई आराध्य नहीं था। एक ओर उन्होंने कहा कि मुझे भगवान महावीर का ही आधार है, और किसी का नहीं। दूसरी ओर वे भगवान महावीर की भी एक जगह आलोचना करते हैं। वैशम्पायन ऋषि गोशालक को उष्ण तेजोलेश्या से मार रहा था, भगवान ने गोशालक को बचाने के लिए शीतल तेजोलेश्या नामक योगशक्ति का प्रयोग किया और उससे उसे उबार लिया। आचार्य भिक्षु की साध्य-साधन की मीमांसा से यह कार्य आत्ममुक्ति को प्रमाणित नहीं करता, इसलिए उन्होंने कहा–इस प्रसंग में भगवान द्वारा साधना काल में चूक हुई, क्योंकि शक्ति का प्रयोग शुद्ध साधन नहीं है।[1] इस आलोचना के लिए उन्हें बहुत सहना पड़ा है। उनके उत्तराधिकारी आचार्य भारीमालजी ने प्रार्थना की–'गुरुदेव! यह पद बहुत ही कटु है।' आपने कहा–'कटु तो है, पर सच से परे तो नहीं?' भारीमालजी ने कहा–'नहीं', तब आपने कहा कि रहने दो। इस निर्भीक आलोचना से विरोध का मोर्चा खड़ा कर लिया। इससे उनकी सचाई का स्रोत फूट पड़ता है। श्रद्धा और आलोचना में कोई खाई नहीं है, यह उन्होंने प्रमाणित कर दिया। **शत्रोरपि गुणा वाच्याः, दोषा वाच्याः गुरोरपि**–यह विशाल चिंतन उनकी इस कृति से साकार बन गया।

7. धर्म का व्यापक स्वरूप

जैनधर्म पर आचार्य भिक्षु की अगाध श्रद्धा थी, पर वे जैनधर्म को संकुचित अर्थ में नहीं मानते। उनकी वाणी है– 'भगवान का मार्ग राजमार्ग है। वह कोई पगडंडी नहीं, जो बीच में ही रुक जाए। वह तो सीधा मोक्ष का मार्ग है।'[2]

१. अणुकम्पा री चौपई, ६.१२ :
छ लेस्या हूंती जद वीर में जी, हूंतां आठूंई कर्म
छदमस्थ चूका तिण समें जी, मूर्ख थापें धर्म॥

२. आचार्य संत भीखणजी, पृ. ८५

वे धर्म को एक मानते थे। मिथ्यादृष्टि की निरवद्य प्रवृत्ति धर्म है, इसका दृढ़तापूर्वक समर्थन कर उन्होंने जैन परंपरा के उदार दृष्टिकोण को बहुत ही प्रभावशाली बना दिया। अमुक संप्रदाय का अनुयायी बनने से ही धर्म होता है अन्यत्र नहीं, इस भ्रमपूर्ण मान्यता का उनकी स्पष्ट वाणी से स्वतः खंडन हो गया।[१] धर्म और संप्रदाय एक नहीं हैं, इस सचाई की उन्हें गहरी अनुभूति थी। उन्होंने कहा–'निरवद्य प्रवृत्ति धर्म है, भले फिर वह जैन की हो या जैनेतर की। सावद्य प्रवृत्ति अधर्म है, भले फिर वह जैन की हो या जैनेतर की।'

जो व्यक्ति जैन-दर्शन की व्याख्या को अक्षरशः न माने, उसमें वैराग्य और सदाचार की भावना नहीं जागती, यह मानना दुराग्रह की चरम सीमा है। जैनदर्शन सचमुच ही धर्म की अखंडता को स्वीकार करता है। संप्रदाय धर्म को विभक्त नहीं कर सकते। दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है–ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की सम्यक् आराधना होती है तो व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेता है, भले फिर वह किसी भी वेश या संप्रदाय में हो। इसके प्रमाण गृहलिंग सिद्ध और अन्यलिंग सिद्ध हैं। सम्यक् दर्शन, चारित्र आदि की पूर्णता प्राप्त होने पर गृहस्थ के वेश में भी और जैनेतर संप्रदाय में भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है।[२]

जैन-आगमों में 'असोच्चा' केवली का वर्णन है।[३] जिस व्यक्ति को धर्मोपदेश सुनने का अवसर नहीं मिला, किंतु सहज भाव से ही सरलता, क्षमा, संतोष आदि की आराधना करते-करते जो भावना-बल से सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र पाकर मुक्त हो जाता है, उसके क्रमिक विकास का हेतु धर्म की आराधना है, संप्रदाय विशेष का स्वीकार नहीं।[४]

१. सूत्रकृतांग, १/१/१९ :
आगारमावसंता वि अरण्णा वा वि पव्वया।
इमं दरिसणमावण्णा सव्वदुक्खा विमुच्चंति॥
भ्रम विध्वंसनम्, मिथ्यात्वी क्रियाधिकार पृ. १-४९

२. नन्दीसूत्र, ४२
अन्नलिंग सिद्धा, गिहीलिंग सिद्धा।

३. भगवती, ९/३०/३१

४. मिथ्यात्वी री करणी री चौपई, २.४६, ४७, ४९ :
इण रीतें पेंहला तो समकत पांमीयो रे, विभंग अनांण रो हुवो अवधि गिनांन रे।
पछे अनुक्रमें हुवो केवली रे, पछें गयों पांचमी गति प्रधांन रे॥
असोचा केवली हूआ इण रीत सूं रे, मिथ्याती थकां तिण करणी कीध रे।
कर्म पतला पर्‍या मिथ्याती थकां रे, तिण सूं अनुक्रमें सिवपुर लीध रे॥
जो लेस्या परिणांम भला हूंता नहीं रे, तो किण विध पांमत विभंग अनांण रे।
इत्यादिका कीयां सूं हूवो समकती रे, अनुक्रमें पोहतो छें निरवांण रे॥

आचार्य भिक्षु की व्याख्या में जो सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप है–वही जैन धर्म है। जो जैन धर्म है, वही सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप है। कुछ लोग मिथ्यादृष्टि या जैनेतर व्यक्ति की क्रियामात्र को अशुद्ध मानते थे। आचार्य भिक्षु ने उनके अभिमत की आलोचना की। आपने कहा–जो लोग मिथ्यादृष्टि की निरवद्य क्रिया को भी अशुद्ध मानते हैं, उनकी बुद्धि सही मार्ग पर नहीं है। मिथ्यादृष्टि की निरवद्य क्रिया में कोई गुण नहीं–यह कहने वालों की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है।[१]

आचार्य भिक्षु ने कहा कि भगवान का धर्म समुद्र की तरह विशाल और आकाश की तरह व्यापक है। जो धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है, भगवान ने जिसकी व्याख्या की है, वह एक शब्द में है अहिंसा। भगवान ने कहा–प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को मत मारो, उन पर अनुशासन मत करो, उन्हें दास-दासी बनाकर अपने अधीन मत करो। उन्हें परिताप मत दो, उन्हें कष्ट मत दो, उन्हें उपद्रवित मत करो, यही धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है।[२] यह धर्म उन सबके लिए है, जो धर्म के आचरण के लिए उठे हैं या नहीं उठे हैं, जो धर्म सुनना चाहते हैं या नहीं चाहते हैं, जो प्राणियों को दंड देने से निवृत्त हुए हैं या नहीं हुए हैं, जो उपाधि-युक्त हैं या उपाधि-रहित हैं, जो संयोग से बंधे हुए हैं या नहीं हैं।[३]

आचार्य भिक्षु ने अपने जीवन को भगवान की इस वाणी का सफल अनुवाद बना डाला।

---

१. मिथ्यात्वी री करणी री चौपई, १.२६-३०

निरबद करणी करें पेंहलें गुणठांणे, तिण करणी नें जाबक जांणें असुध।
इसडी परूपणा करें अग्यांनी, तिणरी भिष्ट हुइ छें सुधनें बुध॥
पेंहलें गुणठांणे निरबद करणी करें छें, तिणरी करणी सरायां में दोषण जांणें।
अतिचार लागों कहें समकत मांही, तिणरो न्याय जाण्यां त्रिण मूर्ख तांणें॥

२. आयारो, ४/१, २ :

से बेमि-जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमेस्सा, अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे, णिइए, सासए .....।

३. आयारो, ४/३ :

उट्ठिएसु वा, अणुट्ठिएसु वा। उवट्ठिएसु वा, अणुवट्ठिएसु वा। उवरयदंडेसु वा, अणुवरयदंडेसु वा। सोवहिएसु वा, अणोवहिएसु वा। संजोगरएसु वा, असंजोगरएसु वा।

8. आग्रह से दूर

आचार्य भिक्षु में अपने सिद्धांत के प्रति जितना आग्रह था, उतना ही दुराग्रह से दूर रहने का तीव्र प्रयत्न। उन्होंने यही सीख दी कि खींचातानी से बचो, कोई तत्त्व समझ में न आए तो दुराग्रह मत करो, बहुश्रुत व्यक्तियों से समझो, फिर भी समझ में न आए तो उसे केवलीगम्य कहकर छोड़ दो। चिंतन भले करो, पर दुराग्रह से बचते रहो।[१] उन्होंने यह सीख ही नहीं दी, उनके चरण भी इसी पथ पर आगे बढ़े।

उन्होंने एक दिन कहा– दस प्रकार का श्रमण-धर्म है। तब पास बैठा भाई बोल उठा–नहीं, दस प्रकार का यति-धर्म है। आपने कहा–भले दस प्रकार का महात्मा-धर्म कहो, मुझे क्या आपत्ति है।[२] शब्दों के जाल में फंसने वाला तत्त्व तक नहीं पहुंच पाता। उन्होंने कहा–दया-दया सब लोग पुकारते हैं और यह सच है कि दया धर्म है, पर मुक्ति उन्हें ही मिलेगी, जो दया को पहचानकर उसका पालन करेंगे।'[३]

वे शाब्दिक उलझन में पड़ने वालों को सदा सावधान करते रहे। उनकी बोधवाणी है कि गाय, भैंस, आक और थूहर-इन चारों के दूध होता है। शब्द को पकड़ने वाला गाय के दूध की जगह आक का दूध पी ले तो परिणाम क्या होगा? हमें तत्त्व तक पहुंचना चाहिए, भले फिर उसका माध्यम कोई शब्द बने।[४]

कोरे शब्दों को पकड़ने वालों की स्थिति का चित्रण उनकी कृतियों में अनेक स्थलों पर मिलता है।

---

१. मर्यादा-मुक्तावली
२. भिक्खु-दृष्टान्त, २१३
३. अणुकम्पा री चौपई : ८, दु. १
४. अणुकम्पा री चौपई, १ दु. १-४
अणुकम्पा नें आदरे, कीजों घणा जतन।
जिणवर ना धर्म मांहिली, समकत पाय रतन॥
गाय भैंस आक थोरं नों, ए च्यारुंई दूध।
तिम अणुकम्पा जांणजों, राखे मन में सूध॥
आक दूध पीधां थकां, जुदा करे जीव काय।
ज्यूं सावद्य अणुकम्पा कीयां, पाप कर्म बंधाय॥
भोलेंई मत भूलजों, अणुकंपा रे नांम।
कीजों अंतरंग पारखा, ज्यूं सीझें आतम कांम॥

एक सास ने बहू से कहा–'जाओ, पीपल ले आओ।' बहू गई और मोटी रस्सी से पीपल के तने को बांध उसे खींचने लगी, पर वह एक इंच भी नहीं सरका। उसे खींचते-खींचते उसके हाथ छिल गए। वह साथ-साथ गाती गई कि 'पीपल! चलो, मेरी सास तुझे बुला रही है।' गाते-गाते वह रोने लगी। एक समझदार आदमी आया और उसने उससे पूछा–'बहन! रोती क्यों हो?' उसने सारा हाल कह सुनाया। उसने उसे सास का आशय समझाया और कहा– 'बहन! पीपल नहीं चलेगा। इसकी एक डाली तोड़ ले जाओ, तुम्हारा काम बन जाएगा।'[१]

शब्दों की पकड़ न हो, यह अनाग्रह का एक पक्ष है। इसका दूसरा पक्ष है आवेशपूर्ण तत्त्व-चर्चा से बचाव करना। स्वामीजी के पास कुछ लोग आए। उनमें आपस में चर्चा चली कि पर्याप्ति और प्राण जीव हैं या अजीव? किसी ने कहा–जीव हैं और किसी ने कहा–अजीव। इस प्रकार आपस में खींचातानी होने लगी। उन्होंने अंत में स्वामीजी से पूछा– गुरुदेव! पर्याप्ति और प्राण जीव हैं या अजीव? स्वामीजी ने उनमें चल रही खींचातानी को देखकर कहा–जिस चर्चा में आग्रह हो, उसे छोड़ देना चाहिए और चर्चाएं क्या कम हैं?[२]

आग्रह से मुक्ति मिल गई।

9. कुशल पारखी

आचार्य भिक्षु वैयक्तिक जीवन में जितने आध्यात्मिक थे, उतने ही सामुदायिक जीवन में व्यावहारिक थे। उनके जीवन में विनोद हिलोरें मारता था। वे कभी-कभी तत्त्व की गहराई को विनोद के तत्त्वों से भर देते थे।

एक चारण को लोगों ने भ्रमित किया कि तू भक्तों को लापसी खिलाता है, उसमें भीखणजी पाप मानते हैं। वह स्वामीजी के पास आया और बोला– भीखणजी! मैं भक्तों को लापसी खिलाता हूं, उसमें क्या होता है? स्वामीजी ने कहा–जितना गुड़ डाला जाता है, उतनी ही मिठास होती है।[३] वह इस तत्त्व को ही पचा सकता था।

एक व्यक्ति ने ब्राह्मणों से कहा–'भीखणजी दान देने का निषेध करते हैं,

---

१. अणुकम्पा री चौपई, ८.३२
किण हीक ठोडें जीव बतावें, किण हीक ठोड संका मन आंणें।
समझ पड्यां विण सरधा परूपें, पीपल बांधी मूर्ख ज्यूं तांणें॥

२. भिक्खु दृष्टान्त, २५६

३. वही, २०

इसलिए हम तुम्हें दान नहीं देंगे।' वे स्वामीजी के पास आए और अपना रोष प्रकट किया। स्वामीजी ने कहा–'जिन लोगों ने ऐसा कहा है वे अगर पांच रुपये दें तो भी मेरी मनाही नहीं है। मुझे मनाही करने का त्याग है।'[१]

उनका रोष खुशी में परिणत हो गया। तत्त्व का रहस्य उतना ही खोलना चाहिए, जितनी सामने वाले की समझ हो।

धर्म को उन्होंने सबके लिए समान माना। धर्म करने का सबको समान अधिकार है, इसका समर्थन किया, फिर भी कहीं-कहीं उनके विचारों में जो जातिवाद के समर्थन की छाया दिखाई पड़ती है, वह व्यावहारिकता से संघर्ष मोल न लेने की वृत्ति है। उन्होंने सामाजिक व्यवहार को तोड़ने का यत्न नहीं किया। घृणित मानी जाने वाली जातियों के घरों से भिक्षा लेने को अनुचित बतलाया।[२] वे परमार्थ और व्यवहार की सीमा को धूप और छांह की भांति मानते थे, जो साथ रहते हुए भी कभी नहीं मिलते।[३]

10. क्रांत वाणी

आचार्य भिक्षु मानव थे। वे मानवीय दुर्बलताओं से सर्वथा मुक्त नहीं थे। उनकी विशेषता इसी में है कि वे उनसे मुक्त होना चाहते थे। उनकी वाणी में कटुता है, प्रहार है और बाणों की वर्षा है। वे व्यक्तिगत आक्षेपों से बहुत बचे हैं, पर अवगुण की धज्जियां उड़ाते समय वे बहुत ही उग्र बन जाते हैं। एक व्यक्ति ने कहा–'भीखणजी! कुछ लोग आप में बहुत दोष निकालते हैं।' आपने कहा–'दोषों को रखना नहीं है। उनको निकाल फेंकना है। कुछ प्रयत्न मैं करता हूं और कुछ वे कर रहे हैं।[४] वे मेरा सहयोग ही तो कर रहे हैं।' इसमें उनकी दुर्बलताओं पर विजय पाने की सतत साधना बोल रही है।

आचार्य भिक्षु असंयम और संयम में भेदरेखा खींचते समय कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है, मानो उनका दिल दया से द्रवित न हो।[५] बहुधा प्रश्न ऐसा

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, ६५

२. आचार की चौपई

३. अणुकम्पा री चौपई, ६.७०

४. भिक्खु दृष्टान्त, १३

५. अणुकम्पा री चौपई, ४.२१-२२

ग्यांन दरसण चारित नें तप, यांरों करे कोइ उपगार हो।
आप तिरें पेंलों उधरे, दोयां रों खेवों पार हो॥
ए च्यार उपगार छें मोटका, तिणमें निश्चेंई जांणों धर्म हो।
शेष रह्या कार्य संसार नां, तिण कीधां बंधसी कर्म हो॥

होता है कि इस विचारधारा का सामाजिक जीवन पर क्या असर होगा? प्रश्न अहेतुक भी नहीं है। संसार के प्रति उदासीनता लाने वाला विचार सामाजिक व्यवस्था में कहीं बाधा भी डाल सकता है, पर इन सबके उपरांत हमें यह भी तो समझना होगा, जो आचार्य भिक्षु हमें समझाना चाहते थे। वे संयम और असंयम के बीच भेदरेखा खींच रहे थे, उस समय जो विचार उन्होंने दिए, उनका उद्देश्य सामाजिक सहयोग का विघटन नहीं, किंतु संयम और असंयम का पृथक्करण या बंधन और मुक्ति का विश्लेषण है।[१]

उनके दयार्द्र मानस का परिचय हमें तब मिलता है, जब हम उनके सेवाभाव की ओर दृष्टि डालते हैं। उन्होंने कहा–'जो साधु रोगी, वृद्ध और ग्लान साधुओं की सेवा-शुश्रूषा नहीं करता, वह भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करता है। उसके महामोहनीय कर्म का बंध होता है। उसके इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं।[२]

एक साधु आहार-पानी की भिक्षा लाए, उसका कर्तव्य है कि वह दूसरे साधुओं को संविभाग दे, किंतु यह मैं लाया हूं, ऐसा सोच जो अधिक लेता है, उसे चोरी का दोष लगता है और उसका विश्वास उठ जाता है। एक बार मुनि खेतसीजी को अतिसार हो गया। स्वामीजी ने स्वयं उन्हें संभाला और उनकी परिचर्या की।[३]

रोगी साधुओं के लिए दाल मंगवाते और उन्हें चखकर अलग-अलग रख देते। किसी में नमक अधिक होता, किसी में कम। रोगी के लिए कौन-सी अनुकूल है, कौन-सी नहीं, इसका पूरा ध्यान रखते।[४] उनकी शासन-व्यवस्था यह है कि कोई साधु की परिचर्या करने में आना-कानी करे, वह संघ में रहकर भी संघ का नहीं है। उसे संघ से बहिष्कृत कर देना चाहिए।

'जिन शासन में ग्लान की सेवा ही सार है और जो ग्लान की सेवा करता है, वह मुक्ति प्राप्त करता है।'[५] जैन परंपरा के इस आदर्श की उन्होंने

१. अणुकम्पा री चौपई , ६.७१-७४

२. अणुकम्पा री चौपई, ८.४५
रोगी गरढा गिलांण साध री वीयावच, साध न करे तो श्री जिण आगना बारें।
महा मोहणी कर्म तणों बंध पाडें, इह लोक नें परलोक दोनूं बिगाडें॥

३. भिक्खु दृष्टान्त, २५३

४. वही, १७१

५. उत्तराध्ययन नेमिचन्द्रीय वृत्तिः पत्र १८
'गिलाणवेयावच्चमेवेत्थ पवयणे सारं, जो गिलाणं जाणइ सो य दंसणेणं पडिवज्जई'

कभी विस्मृति नहीं की। उनकी भूमिका साधु-जीवन की थी। उनका साध्य आत्ममुक्ति था। इसलिए उन्होंने जो कहा, वह साधु-जीवन को लक्ष्य कर कहा। यह वाणी किसी समाज-नेता की होती तो वह समाज को लक्ष्य कर कहता। यह भूमिका-भेद है। समाज की भूमिका में करुणा प्रधान होती है और अहिंसा गौण। आत्म-मुक्ति की भूमिका में अहिंसा प्रधान होती है और करुणा गौण। सामाजिक प्राणी वहां अहिंसा की उपेक्षा भी कर देता है, जहां उसे करुणा की अपेक्षा होती है। आत्ममुक्ति की साधना करने वाला करुणा की अपेक्षा वहीं रखता है, जहां अहिंसा की उपेक्षा न हो। करुणा के भाव से भावित व्यक्तियों का प्रेरक वाक्य यह रहा कि मैं राज्य की कामना नहीं करता। मुझे स्वर्ग और मोक्ष की भी कामना नहीं है। दुःख से पीड़ित प्राणियों का दुःख दूर करूं, यही मेरी कामना है।'[४]

इसमें करुणा का अजस्र स्रोत है, पर उद्देश्य का अनुगमन नहीं है। कोई भी मुमुक्षु अपवर्ग (मोक्ष) की इन शब्दों में उपेक्षा नहीं कर सकता। समाज की स्थापना का मूल परस्पर-सहयोग है। सहयोग की भित्ति को अवस्थित करने के लिए ही यह श्लोक रचा गया है। अपने उद्देश्य की सीमा तक यह बहुत मूल्यवान है, पर मोक्ष के साधनों पर विचार किया जाए तब यह विषय बहुत चिंतनीय हो जाता है। वस्तुतः दुःख क्या है? किस प्रकार का दुःख दूर करना मोक्ष के अनुकूल है? दुःख को दूर कैसे किया जाए? किसलिए किया जाए? आदि-आदि। साधारण दृष्टि यह है कि प्रिय वस्तु का वियोग और अप्रिय का संयोग ही दुःख है। प्रतिकूल वेदना ही दुःख है। मोक्ष-दृष्टि यह है कि बंधन-दुःख है। सामान्यतः माना जाता है कि प्रिय वस्तु का संयोग और अप्रिय वस्तु का वियोग सुख है। अनुकूल वेदना सुख है। मुमुक्षु लोग मानते हैं कि बंधन-मुक्ति सुख है।

मनुष्य का ध्येय मोक्ष होना चाहिए, इस विचार में सभी आत्मवादी एकमत हैं। मोक्ष में राग-द्वेष, स्नेह आदि के बंधन नहीं हैं। इसमें भी दो मत नहीं हैं। साध्य के निकट पहुंच शरीर से भी मुक्ति पा लेना है, यह भी विवादास्पद नहीं। मतभेद इस बात में है कि मोक्ष का साधन क्या है? साध्य समान होने पर भी साधन समान नहीं हैं।

जो आत्मवादी नहीं हैं, उनका साध्य कोरा सामाजिक अभ्युदय होता है। जिनका विश्वास आत्मवाद में है, पर आचरण की शक्ति का जिनमें पर्याप्त

---

१. न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां, प्राणिनामर्त्तिनाशनम्॥

विकास नहीं हुआ है, उनका प्रधान साध्य मोक्ष या आत्मा का पूर्ण विकास होता है और गौण साध्य सामाजिक अभ्युदय या आवश्यक भौतिक विकास। आत्मा में जिनका कोरा विश्वास ही नहीं होता, किंतु जिनकी आचरणात्मक शक्ति पर्याप्त विकसित होती है, वे केवल आत्म-विकास को ही साध्य मानकर चलते हैं। ये जीवन की तीन कोटियां हैं। इनके विचारों को पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण से समझा जाए तो कोई उलझन नहीं आती। जीवन के इन तीन प्रकारों को जब एक ही तुला से तोलने का प्रयत्न होता है, तब विसंगति उत्पन्न होती है। आत्म-विकास का साधन है ब्रह्मचर्य। सामाजिक प्राणी विवाह करता है। अब्रह्मचर्य मोक्ष का साधन नहीं है। जिस आत्मवादी का साध्य मोक्ष होता है और वह ब्रह्मचारी रह नहीं सकता, इसलिए वह विवाह करता है। चिंतन-काल में यह विसंगति प्रतीत होती है। आस्था और कर्म में विरोध की अनुभूति होती है। इस विसंगति का निवारण दो प्रकार से किया जाता है। एक विचार है कि समाज के आवश्यक कर्म यदि अनासक्त भाव से किए जाएं तो वे मोक्ष-साधना के प्रतिकूल नहीं होते। दूसरा विचार है कि आचरण का पक्ष प्रबल होने पर ही आस्था और कर्म की विसंगति मिटती है। साधना के प्राथमिक चरण में उसका निवारण नहीं होता। जब आचरण का बल विकासशील होता है, तब आस्था और कर्म की दूरी मिट जाती है।

आचार्य भिक्षु इस दूसरी विचारधारा के समर्थक थे। उन्होंने आस्था और कर्म की विसंगति को मिटाने के लिए साधन के विचार को गौण नहीं किया। उन्हें यह ज्ञात था कि आस्था का परिपाक आचरण से पहले होता है। आचरण के साथ आस्था अवश्य होती है, पर आस्था के साथ आचरण नहीं भी होता। आचरण के अभाव में आस्था को विपरीत बताना उन्हें अभीष्ट नहीं था। आस्था और कर्म में संगति लाने के लिए वे मोक्ष के असाधन को साधन मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हुए। इसी भूमिका में उनके विचारों की कुछ महत्त्वपूर्ण रेखाएं निर्मित हुईं, जिनकी प्रतिक्रिया प्राचीन भाषा में यह है कि भीखणजी ने दया-दान को उठा दिया। ये मरते प्राणी को बचाने की मनाही करते हैं आदि-आदि। आज की भाषा में उनकी प्रतिक्रिया है कि उन्होंने सामाजिक जीवन को लौकिक और लोकोत्तर या आध्यात्मिक रूप में विभक्त कर दिया आदि-आदि। इन प्रतिक्रियाओं का उत्तर हमें उनके साध्य-साधन की सैद्धांतिक चर्चा से ही लेना है, इसलिए हमें उनके साध्य-साधनवाद के कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों पर दृष्टिपात करना होगा।

3. साध्य-साधन के विविध पहलू

1. जीवन और मृत्यु

मनुष्य की पहली जिज्ञासा है जीवन और अंतिम जिज्ञासा है मृत्यु। शेष जिज्ञासाएं इस द्वंद्व के बीच में हैं।

जीवन क्या है? सत्यान्वेषण की रेखा के ये प्रधान बिंदु हैं। जीवन से पूर्व और मौत के पश्चात् क्या है और क्या होगा? इन प्रश्नों के समाधान में आचार्य भिक्षु की कोई नई देन है, यह मैं नहीं जानता। जीवन और मृत्यु हमारी दृष्टि के स्पष्ट कोण हैं। इनकी व्याख्या को उन्होंने अवश्य ही आगे बढ़ाया है। सामान्य धारणा के अनुसार जीवन काम्य है और मौत अकाम्य। प्राणियों में तीन एषणाएं हैं, उनमें पहली है–'प्राणैषणा'। वैदिक ऋषियों ने कहा–'हम सौ वर्ष जीएं।'[१] भगवान महावीर ने कहा–'सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता।'[२] यही विचार मनोवैज्ञानिक सुखवाद का आधार बन गया। साधना की दृष्टि से भगवान महावीर ने कहा–जीवन और मृत्यु की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए।[३] व्यास भी इसी भाषा में बोलते हैं–जीवन और मृत्यु का अभिनंदन न करे।[४]

आचार्य भिक्षु की चिंतन-दिशा स्वतंत्र नहीं थी। उनका चिंतन जैनागमों की परिक्रमा करते हुए चला, पर परिक्रमा का मार्ग उन्होंने विस्तृत बना दिया। उन्होंने कहा–जीवन और मृत्यु अपने आप में न काम्य है और न अकाम्य।

---

१. यजुर्वेद, ३६/२४
पश्येम शरदः शतम्
अदीनाः स्याम शरदः शतम्।

२. दशवैकालिक, ६/११
सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।

३. सूत्रकृतांग, १/१०/२४
णो जीवितं णो मरणाभिकंखी।

४. महाभारत शांतिपर्व, २४५/१५
नाभिनन्देत मरणं, नाभिनन्देत जीवितम्।

ये परिवर्तन के अवश्यंभावी चरण हैं। पहले चरण में प्राणी नए जीवन के लिए आता है और दूसरे में नए जीवन के लिए चला जाता है। पुद्गल की भूमिका में जीवन काम्य है और मृत्यु अकाम्य। आत्मा की भूमिका में जीवन और मृत्यु न काम्य और न अकाम्य। असंयममय जीवन और मृत्यु अकाम्य हैं, संयममय जीवन और मृत्यु काम्य। निष्कर्ष की भाषा में असंयम अकाम्य है और संयम काम्य। काम्य और अकाम्य सापेक्ष हैं। इनका निर्णय साध्य के आधार पर ही किया जा सकता है।

साध्य दो भागों में विभक्त है—जीवन या जीवन-मुक्ति। प्रवृत्ति का क्षेत्र है जीवन। उसका स्रोत है—रागात्मक या द्वेषात्मक भाव। मृत्यु जीवन का अनिवार्य परिणाम है, इसलिए जो जीना चाहता है, वह मरना भी चाहता है। परिणाम की दृष्टि से यही संगत है। जीव जीना चाहता है, मरना नहीं चाहता। यह रुचि की दृष्टि से ही संगत हो सकता है, किंतु रुचि की अपेक्षा आचरण में अधिक बल होता है। अधर्म करने वाला धर्म का फल चाहता है। आचरण अधर्म का और रुचि धर्म के फल की, यह संघर्ष है। इसमें विजयी आचरण होता है। वह रुचि को परास्त कर जीव को अपने पीछे ले चलता है।

सच तो यह है कि जो मरना नहीं चाहता, वह जीना भी नहीं चाहता। मृत्यु से मुक्ति वही पा सकता है, जो जीवन से मुक्ति पा सके। इस विवेक के बाद हम एक बार सिंहावलोकन करेंगे। रुचि की अपेक्षा सत्य यह है कि जीवन काम्य है, मृत्यु अकाम्य। आचरण की अपेक्षा सच यह है कि जिसे जीवन काम्य है, उसे मृत्यु भी काम्य है और जिसे मृत्यु अकाम्य है, उसे जीवन भी अकाम्य। आचार्य भिक्षु ने इस साध्य की कसौटी पर साधन को परखा। परख का परिणाम उन्होंने इन शब्दों में रखा—अध्यात्म की भाषा में जीवन साध्य नहीं है। साध्य है जीवन की मुक्ति, उसका साधन है संयम। इसलिए संयम ही काम्य है। असंयम जीवन-मुक्ति का साधन नहीं है, इसलिए वह अकाम्य है। असंयत जीवन भी अकाम्य है और उसे चलाने के साधन भी अकाम्य हैं। संयत जीवन भी काम्य है और उसे चलाने के साधन भी काम्य हैं। साधन वही होता है, जो साध्य के सर्वथा अनुकूल हो। जीवन-मुक्ति की साधना तभी हो सकती है जबकि जीवन टिके। जीवन अन्न और पानी के बल पर टिकता है। उसका अर्जन प्रवृत्ति से होता है, इसलिए सब काम्यों का मूल प्रवृत्ति है। इस तर्क के आधार पर जीवन-मुक्ति का साधन जीवन, जीवन का साधन अन्न-पानी और उसका साधन प्रवृत्ति है, इसलिए ये सब काम्य हैं।'

आचार्य भिक्षु ने इस कारण-परंपरा को पूर्ण सत्य नहीं माना। उन्होंने कहा–जीवन-मुक्ति का साध्य है–संयत जीवन और अन्न-पान के अर्जन की प्रवृत्ति संयत हो तो यह क्रम साध्य के अनुकूल है, इसलिए काम्य हो सकता है। जीवन-मुक्ति का साध्य, असंयत जीवन और अन्न-पान के अर्जन की प्रवृत्ति असंयत हो तो यह क्रम साध्य के अनुकूल नहीं है, इसलिए यह अकाम्य है। साध्य जीवन-मुक्ति का न हो, जीवन और अन्न-पान के अर्जन की प्रवृत्ति असंयत हो तो वह अकाम्य ही है। यह दिशा साध्य और साधन दोनों से शून्य है। आचार्य भिक्षु के धर्म और अधर्म, अहिंसा और हिंसा के पृथक्करण की भेदरेखा यही है। उन्होंने कहा–

'जीव जीता है, वह अहिंसा या दया नहीं है। कोई मरता है, वह हिंसा नहीं है। मारने की प्रवृत्ति हिंसा है और मारने की प्रवृत्ति का संयम करना अहिंसा है।'[१]

उन्होंने दृष्टांत की भाषा में कहा–'चींटी जीवित रहे, इसलिए आपने उसे नहीं मारा, यह अहिंसा या दया है तो हवा का झोंका आया, चींटी उड़ गई, आपकी दया भी उड़ गई। किसी का पैर टिका, वह मर गई, आपकी दया भी मर गई। जो अहिंसा किसी जीव को जिलाने के लिए होती है, वह उसकी मौत के साथ चली जाती है और जो अहिंसा जीवन-मुक्ति के लिए होती है, वह संयम में परिणत हो जाती है।' आचार्य भिक्षु की भाषा में संयम और धर्म अभिन्न हैं। जीवन और मृत्यु की इच्छा असंयम है, इसलिए वह अधर्म है। वह अहिंसा नहीं है, किंतु मोह है। मोहात्मक प्रवृत्ति से जीवन की परंपरा खत्म नहीं होती, किंतु वह बढ़ती ही है।[२]

मोह-मूढ़ मानस का साध्य जीवन बन जाता है। जो जीवन को साध्य मानकर जीता है, वह पवित्रता या संयम को प्रधान नहीं मान सकता। संयम को प्रधानता वही दे सकता है, जिसका साध्य जीवन-मुक्ति हो।

2. आत्मौपम्य

एक आदमी लोहे का लाल-लाल तपा हुआ एक गोला संड़ासी से पकड़कर लाता है और कहता है–

---

१. अणुकम्पा री चौपई, ५.११
जीव जीवें ते दया नहीं, मरें ते हो हिंसा मत जांण।
मारणवाला नें हिंसा कही, नहीं मारे हो ते तो दया गुण खांण॥

२. अणुकम्पा री चौपई, ३. दु. १ :
वांछें मरणों जीवणों, तो धर्म तणों नहीं अंस।
ए अणुकम्पा थकां, वधें कर्म नों वंस॥

हे धर्म संस्थापको! लो, इस गोले को एक क्षण के लिए अपनी हथेली में लो। यह कहकर उस आदमी ने गोले को आगे बढ़ाया, परंतु सबने अपने हाथ पीछे खींच लिए। यह देख उसने कहा–

'ऐसा क्यों? हाथ क्यों खींच लिए?'

'हाथ जल उठेंगे'

'क्या होगा जलेंगे तो?'

'वेदना होगी।'

'जैसे तुम्हें वेदना होती है, वैसे क्या दूसरों को नहीं होती?'

'सब जीवों को अपने समान समझो। सब जीवों के प्रति इसी गज और माप से काम लो।'[१]

भगवान महावीर ने कहा–'सब जीवों को आत्मतुल्य समझो।'[२]

महात्मा बुद्ध ने कहा–'दंड से सब डरते हैं, मृत्यु से सब को भय लगता है। दूसरों को अपनी तरह जानकर मनुष्य किसी दूसरे को न मारे, न मरवाए।'[३]

योगीराज कृष्ण ने कहा था–'जो योगयुक्त आत्मा है, जो सर्वत्र समदर्शी है, वह सब जीवों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सब जीवों को

---

१. अणुकम्पा री चौपई, ६.६०-६५ :
केइ जीव मार्‌यां मांहें धर्म कहें छे, ते पूरा अग्यांनी उंधा जी।
त्यांनें जाणं पुरष मिलें जिण मारग रो, किण विध बोलावें सूधा जी॥
लोह नों गोलो अगन तपाए, ते अगन वर्ण करें तातो जी।
ते पकड़ संडासें आयों त्यां पासें, कहें बलतो गोलो थें झालो हाथो जी॥
जब पाषंडीयां हाथ पाछो खांच्यों, जब जांण पुरुष कहे त्यांनें जी।
थें हाथ पाछो खांच्यो किण कारण, थांरी सरधा म राखों छानें जी॥
जब कहें गोलो म्हें हाथे ल्यां तों, म्हांरों हाथ वलें लागें तापो जी।
तो थांरो हाथ बालें तिणनें पाप के धर्म, जब कहें उणनें लागो पापो जी॥
थांरो हाथ बालें तिणनें पाप लागें तो, ओरां नें मार्‌यां धर्म नांहीं जी।
थें सर्व जीव सरीषा जांणों, थें सोच देखों मन मांहिं जी।
जे जीव मार्‌यां में धर्म कहें ते, रूलें काल अनंतो जी।
सूयगडा अंग अधेन अठारमें, तिहां भाष गया भगवंतो जी॥

२. दशवैकालिक, १०/५ :
अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पिकाए।

३. धम्मपद दण्ड वर्ग, १ :
सव्वे तसंति दंडस्स सव्वे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥

देखता है।'[१] यह आदर्श वाणी है। साधना के पहले सोपान में आदर्श और व्यवहार का पूर्ण सामंजस्य नहीं होता, वह सिद्धिकाल में होता है। मान्यता और आचरण में विरोध नहीं होता, ऐसा नहीं मानना चाहिए। मनुष्य जो कुछ मानता है, वही करता है, यह एकांत सत्य नहीं है। मान्यता यथार्थ होने पर भी कुछ ऐसी अनिवार्यताएं या दुर्बलताएं होती हैं कि मनुष्य मान्यता के अनुरूप आचरण नहीं कर पाता। वीतराग आत्मा के सिद्धांत और आचरण में कोई विसंगति नहीं होती। अवीतराग-छद्मस्थ की पहचान सात बातों से होती है[२]– (1) वह हिंसा करता है (2) असत्य बोलता है (3) अदत्त लेता है (4) इन्द्रिय-विषयों का आस्वादन करता है (5) पूजा-सत्कार चाहता है (6) यह सपाप है, यों कहता हुआ भी उसका आचरण करता है और (7) कथनी के अनुरूप करणी नहीं करता।

यह एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक तथ्य है, इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। केवल सिद्धांत और आचरण में गति लाने का प्रयत्न हुआ। फलस्वरूप हिंसा ने अहिंसा का रूप ले लिया। हिंसा उपादेय नहीं है–यह मान्यता पक्ष रहा। जीवन-निर्वाह के लिए हिंसा अनिवार्य है–यह व्यवहार-पक्ष रहा। यह स्पष्ट विसंगति है, इसे मिटाने का और कोई मार्ग नहीं सूझा, तब ये व्याख्याएं स्थिर होने लगीं–

1. आवश्यक हिंसा, हिंसा नहीं है।
2. बहुतों के लिए थोड़ों की हिंसा, हिंसा नहीं है।
3. बड़ों के लिए छोटों की हिंसा, हिंसा नहीं है

आचार्य भिक्षु ने इस ओर जनता का ध्यान खींचा कि यह दोहरी भूल है। एक तो हिंसा करना और दूसरा हिंसा को अहिंसा मानना। उन्होंने आत्मविश्वास के साथ कहा–हिंसा कभी और किसी भी परिस्थिति में अहिंसा नहीं हो सकती। इनमें पूर्व और पश्चिम की-सी दूरी है।[३]

---

१. गीता, ६/२९ :
सर्वभूतस्थमात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शनः॥

२. ठाणं ७/२८
सत्तहिं ठाणेहिं छउमत्थं जाणेज्जा, तं जहा–पाणे अइवाएत्ता भवति। मुसं वइत्ता भवति अदिण्णं आदित्ता भवति। सद्दफरिसरसरूवगंधे आसादेत्ता भवति। पूयासक्कारंअणुवूहेत्ता भवति। इमं सावज्जंति पण्णवेत्ता पडिसेवेत्ता भवति। णो जहावादी तहाकारी यावि भवति।

३. अणुकम्पा री चौपई, ९.७१ :

उन्होंने तर्क की भाषा में कहा–'आवश्यकता की कोई सीमा नहीं है। आवश्यक हिंसा को अहिंसा माना जाए तो हिंसा कोई रहेगी ही नहीं। आवश्यकता की सृष्टि दुर्बलता के तत्त्वों से होती है। वे हिंसा को अहिंसा में बदल सकें इतनी क्षमता उनमें नहीं है, इसलिए आवश्यक हिंसा भी हिंसा है।'

महात्मा गांधी ने जीवन की विसंगति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है– 'श्रद्धा और कर्म में विरोध किसलिए? विरोध तो अवश्य है ही। जीवन एक झंखना है। इसका ध्येय पूर्णता अर्थात् आत्म-साक्षात्कार के लिए मंथन करने का है। अपनी निर्बलता और अपूर्णताओं के कारण आदर्श को नीचे गिराना नहीं चाहिए। मुझमें निर्बलता और अपूर्णता दोनों हैं, इसका दुःखद भान मुझे है। हालांकि बोरसद के लोगों के सामने मैंने अपने सहोदर चूहे, चींचड़ के विनाश का समर्थन किया, तथापि मैंने जीव-मात्र के प्रति शाश्वत प्रेम-धर्म का शुद्ध रूप भी बतलाया। इसका पूर्णता से पालन मुझसे इस जन्म में न हो सके तथापि इस संबंध की मेरी श्रद्धा तो अविचल रहेगी।'[१]

वर्तमान का नीतिशास्त्र कहता है– 'ग्रेटेस्ट गुड ऑफ दी ग्रेटेस्ट नम्बर'– अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख या हित हो। इसमें बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों के बलिदान को उचित माना गया है। इसी सिद्धांत ने बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक का झगड़ा खड़ा किया है। नीतिशास्त्र की इस मान्यता पर राजनीति का प्रभाव है। एकतंत्र की प्रतिक्रिया जनतंत्र के रूप में हुई। जनतंत्र का अर्थ है–अल्पसंख्यकों पर बहुसंख्यकों का राज्य और बहुमत के सामने अल्पमत की पराजय। इस भावना का प्रतिबिंब नीतिशास्त्र पर पड़ा और वह सर्वभूत-आत्मभूत की बात भूल गया।

मध्यकालीन धर्मशास्त्र के व्याख्याता भी इस भूल से अपने को बचा नहीं सके। उन्होंने भी बहुमत का साथ दिया, इसलिए आचार्य भिक्षु ने क्रांति के स्वर में कहा–

'बहुतों के हित के लिए थोड़ों के हित को कुचल देना उतना ही दोषपूर्ण है, जितना कि थोड़ों के हित के लिए बहुतों के हित को कुचलना। एक आदमी सौ रोगी मनुष्यों को स्वस्थ करने के लिए 'ममाई' करता है, एक मनुष्य के शरीर को क्षत-विक्षत कर खून निकालता है, एक आदमी सिंह और कसाई को

१. व्यापक धर्म भावनाः जीवमात्र की एकता, पृ. ९, १०

मारकर अनेक जीवों को मृत्यु के मुंह में जाने से बचाता है। इसमें धर्म बताने वालों की श्रद्धा विशुद्ध नहीं है।'[१]

राजतंत्र में राजा के जीवन का असीम मूल्य था। उसकी या उसके परिवार की इच्छा की वेदी पर मनुष्यों तक की बलि हो सकती थी। एक पौराणिक कथा के अनुसार एक राजकन्या की इच्छा पर राजा ने वैश्य-पुत्र को मारने की आज्ञा दे दी। प्रमुख नागरिक राज्यसभा में गए। राजा ने उनकी प्रार्थना के उत्तर में कहा–'राजकन्या का आग्रह है कि या तो वह जीएगी या वैश्यपुत्र। दोनों एक साथ नहीं जी सकते। राजा ने कहा–'आप कहिए, मैं किसे मारूं?' नागरिक अवाक् हो वापस चले आए। राजकन्या के लिए वैश्य-पुत्र मारा गया। राज्यसत्ता शक्ति का जाल है। उसमें जो फंसे उन्होंने इसे क्षम्य मान लिया, पर अहिंसा आत्मा की सहज पवित्रता है। वह एक के लिए दूसरे की बलि को कभी भी क्षम्य नहीं मान सकती। जो लोग अहिंसा के क्षेत्र में राजतंत्र की परंपरा को निभा रहे थे, उनके विरुद्ध आचार्य भिक्षु ने विद्रोह किया। उनकी वाणी ने घोषित किया–

'छोटे जीवों को मारकर बड़ों का पोषण करने को जो अहिंसा कहते हैं, वे छोटे जीवों के दुश्मन हैं।'[२]

उनका दयार्द्र मन कह उठा–'ये छोटे जीव अपने अशुभ कर्म भुगत रहे हैं, लोग इन्हें सता रहे हैं और उनके द्वारा बड़े जीवों के पोषण में पुण्य बतलाने वाले भेषधारी उठ खड़े हुए हैं।'[३] छोटे और बड़े जीवों में शरीर और ज्ञान की मात्रा का तारतम्य है। आत्मत्व की दृष्टि से सब जीव समान हैं। अहिंसा और हिंसा का माप छोटा-बड़ा आकार नहीं है। वह राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति के भाव और अभाव से नापी जाती है।

---

१. अणुकम्पा री चौपईः ७. १०, २७

मरता देखी सो रोगला, ममाइ विण हो ते तो साजा न थाय।
कोइ ममाइ कर मिनष री, सो जणां रे हो साता कीधी बचाय॥
कोई नाहर कसाइ मार नें, मरता राख्या हो घणां जीव अनेक।
जो गिणें दोयां नें सारिषा, त्यांरी बिगड़ी हो सरधा बात ववेक॥

२. विरत इविरत री चौपई, ७.४ :

रांकां नें मार धींगां नें पोख्यां, ए तो बात दीसें घणी गेंरी।
तिण मांहें दुष्टी धर्म बतावें, ते रांक जीवां रा उठ्या वेंरी॥

३. वही, ७.५

पाछिल भव पाप उपाया तिण सूं, ते हुआ एकेंद्री पुन पखारी।
त्यां रांक जीवां रे उसभ उदें सूं, लोकां सहित लागू उठ्या भेषधारी॥

आवश्यक हिंसा, हिंसा नहीं है, बहुतों के लिए थोड़ों की हिंसा, हिंसा नहीं है, बड़ों के लिए छोटों की हिंसा, हिंसा नहीं है–इन धारणाओं का मूल रागात्मक प्रवृत्ति है और इनका आचरण भी रागात्मक है। इसलिए यह सारा हिंसा पक्ष है।

जीव जीव का जीवन है–यह प्राणी की विवशता है, पर अहिंसा नहीं है।

बहुसंख्यकों के हित के लिए अल्पसंख्यकों का अहित क्षम्य है, यह जनतंत्र का सिद्धांत है, पर अहिंसा नहीं है।

बड़ों के लिए छोटों का बलिदान क्षम्य है, यह राजतंत्र की मान्यता है, पर अहिंसा नहीं है।

इन सिद्धांतों से आत्मौपम्य या सर्वभूतात्मभूतवाद की रीढ़ टूटी है। बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक तथा छोटे और बड़े के प्रश्न हिंसा के क्षेत्र में उठते हैं। अहिंसा का स्वरूप इन सभी प्रश्नों से मुक्त है।

आत्मौपम्य के प्रयोग की भूमिकाएं विभिन्न हैं। रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति तीव्र होती है, आत्मौपम्य की बुद्धि मंद हो जाती है। रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति मंद होती है, आत्मौपम्य की बुद्धि तीव्र हो जाती है। मनुष्य का ज्ञान विशुद्ध होता है तब वह आत्मौपम्य को जानता है। उसकी दृष्टि विशुद्ध होती है तब वह आत्मौपम्य का आचरण करता है।

कुछ लोग हिंसा को अनिष्ट जानते हुए भी अहिंसा में विश्वास नहीं कर पाते। यह वह स्थिति है, जहां ज्ञान है, पर दृष्टि की शुद्धि नहीं है। कुछ लोग हिंसा को अनिष्ट जानते हुए और अहिंसा में विश्वास करते हुए भी उसका आचरण नहीं कर पाते। यह वह भूमिका है, जहां ज्ञान और दृष्टि है, पर चारित्रिक क्षमता नहीं है।

इन भूमिका-भेदों को ध्यान में रखकर ही आचार्य भिक्षु ने हिंसा और अहिंसा, व्यवहार और परमार्थ का विश्लेषण किया।

3. संसार और मोक्ष

संसार व्यवहार से चलता है। व्यवहार में हिंसा की अनिवार्यता है। यदि हिंसा और अहिंसा में अत्यंत भेद न हो तो हिंसा करना कौन चाहेगा? उसके बिना व्यवहार नहीं चलेगा। व्यवहार के बिना संसार मिट जाएगा।

प्रत्येक आदमी मोक्ष चाहता है, सुख चाहता है। उसका साधन अहिंसा है। सब लोग उसी का आचरण करना चाहेंगे। संसार किसी भी समझदार

आदमी का साध्य नहीं है। दु:ख कोई नहीं चाहता है। वह हिंसा से होता है। उसका आचरण कोई नहीं करेगा, सारा व्यवहार गड़बड़ा जाएगा। इस तर्क की कसौटी पर आचार्य भिक्षु के अभिमत को कसा तो लोगों को संसार का भविष्य अंधकारमय दिखाई दिया।

आचार्य भिक्षु ने उसे उक्त भेदों के आधार पर सुलझाया। उन्होंने कहा कि हिंसा और अहिंसा का सिद्धांत मोहाणुओं की सक्रियता और निष्क्रियता पर अवलंबित है। मोहाणु मनुष्य को पदार्थ की ओर आकृष्ट करते हैं। उनकी मात्रा अधिक होती है तब जीवन और भोग साध्य बन जाते हैं। उनके लिए हिंसा की जाती है। आपने स्वयं अनुभव किया होगा और अनेक लोगों को यह कहते सुना होगा कि बुराई जानते हुए भी उसे छोड़ नहीं पा रहे हैं। यह स्थिति मोहाणुओं की सक्रियता से बनती है। उनकी निष्क्रियता के लिए कठोर साधना अपेक्षित है। संसार किसी का भी साध्य नहीं होगा, सब लोग अहिंसा का आचरण करना चाहेंगे-यह तर्क हो सकता है, वस्तुस्थिति यह नहीं। दु:ख कोई नहीं चाहता, यह आप और हम सब मानते हैं। अपराधी भी दु:ख के लिए अपराध नहीं करता है, पर उसका परिणाम सुख नहीं है। जीवन-मुक्ति की दृष्टि से देखा जाए तो भोग भी अपराध है। भोगी दु:ख के लिए भोग नहीं करता होगा, पर भोग का परिणाम सुख नहीं है। साध्य की प्राप्ति केवल मान्यता से नहीं, किंतु आचरण की पूर्णता से होती है। भोग का परिणाम संसार है, इसलिए भोगदशा का साध्य संसार ही होगा। भोगासक्त लोग यथेष्ट मात्रा में अहिंसा का आचरण करना चाहते भी नहीं और यदि चाहें तो कर नहीं सकते। आसक्ति और अहिंसा के मार्ग दो हैं। अहिंसा के फूल सुकुमारतम हैं। ये शक्ति के धागे में पिरोए नहीं जा सकते।

4. बल प्रयोग

किसी ने कहा–एकेन्द्रिय को मारकर पंचेन्द्रिय का पोषण करने में लाभ है। आचार्य भिक्षु बोले–किसी व्यक्ति ने तुम्हारा तौलिया छीनकर दूसरे व्यक्ति को दे दिया, उसमें लाभ है या नहीं? एक व्यक्ति ने गेहूं के कोठों को लूट लिया, उसमें लाभ है या नहीं?

वह बोला–नहीं

आचार्य–क्यों?

वह बोला–उनके स्वामी की आज्ञा के बिना दिया गया, इसलिए।

आचार्य–एकेन्द्रिय ने कब कहा कि हमारे प्राण लूटकर दूसरों का पोषण करना। यह बलात्कार है, एकेन्द्रिय की चोरी है। इसलिए एकेन्द्रिय को मार पंचेन्द्रिय का पोषण करने में धर्म नहीं है।[1]

5. हृदय -परिवर्तन

मनुष्य की प्रवृत्ति के निमित्त तीन हैं–शक्ति, प्रभाव और सहजवृत्ति। सत्ता से शक्ति, संबंध से प्रभाव और हृदय-परिवर्तन से सहजवृत्ति का उदय होता है। शक्ति राज्य-संस्था का आधार है। प्रभाव समाज-संस्था या भौतिक-जीवन का आधार है। सहजवृत्ति हृदय की पवित्रता का आधार है। शक्ति प्रेरित हो मनुष्य को कार्य करना पड़ता है। प्रभाव से प्रेरित होकर मनुष्य सोचता है कि यह कार्य मुझे करना चाहिए। सहजवृत्ति से प्रेरित होकर मनुष्य सोचता है कि यह कार्य करना मेरा धर्म है। सब लोग अहिंसक या मोक्षार्थी हो जाएं, यह कल्पना ठीक है, पर सबको अहिंसक या मोक्षार्थी बना देंगे, यह शक्ति का सूत्र है। हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि शक्ति के धागे में सबको एक साथ बांधने की क्षमता है, पर उससे व्यक्ति के स्वतंत्र मनोभाव का विकास नहीं होता। वह व्यक्ति की चारित्रिक अयोग्यता का निदर्शन है। आपसी संबंधों से प्रभावित होकर जो अहिंसक बनता है, वह अहिंसा की उपासना नहीं करता। वह संबंधों को बनाए रखने की प्रक्रिया है। प्रभाव मनुष्यों को बांधता है, पर वह मानसिक अनुभूति की स्थूल रेखा है, इसलिए उसमें स्थायित्व नहीं होता।

मोहाणुओं और पदार्थों से प्रभावित व्यक्ति जो कार्य करते हैं, उनके लिए हम अहिंसा की कल्पना ही नहीं कर सकते। शक्ति के दबाव और बाहरी प्रभाव से रिक्त मानस में जो आत्मौपम्य का भाव जागता है, उसे हृदय परिवर्तन कहा जाता है। शक्ति और प्रभाव से दबकर जो हिंसा से बच जाता है, वह हिंसा का प्रयोग भले न हो, किंतु वह हृदय की पवित्रता नहीं है, इसलिए उसे हृदय-परिवर्तन नहीं कहा जा सकता।

अहिंसा का आचरण वही कर सकता है, जिसका हृदय बदल जाए। अहिंसा का आचरण किया जा सकता है, किंतु कराया नहीं जा सकता। अहिंसक वही हो सकता है, जो अपने को बाहरी वातावरण से सर्वथा अप्रभावित रख सके। बाहरी वातावरण से हमारा तात्पर्य शक्ति, मोहाणु और पदार्थ से हैं। इनमें से किसी एक से भी प्रभावित आत्मा हिंसा से नहीं बच सकती। आक्रमण के प्रति आक्रमण और शक्ति-प्रयोग के प्रति शक्ति-प्रयोग कर हम हिंसा के

१. भिक्खु दृष्टान्त, २६४

प्रयोगात्मक रूप को टालने में सफल हो सकें, यह संभव है, पर वैसा कर हम हृदय को पवित्र कर सकें या करा सकें, यह संभव नहीं। आचार्य भिक्षु ने कहा–'शक्ति के प्रयोग से जीवन की सुरक्षा की जा सकती है, पर वह अहिंसा नहीं है।'

अहिंसा का अंकन जीवन या मरण से नहीं होता, उसकी अभिव्यक्ति हृदय की पवित्रता से होती है। अनाचार करने वाले को समझा-बुझाकर अनाचार से छुड़ाना, यही है अहिंसा का मार्ग।[१] हिंसा और वध सर्वथा एक नहीं हैं। अहिंसक के द्वारा भी किंचित् अशक्य कोटि का वध हो सकता है, किंतु यदि उनकी प्रवृत्ति संयममय है तो वह हिंसा नहीं होगी। वध को बल-प्रयोग से भी रोका जा सकता है, किंतु वह अहिंसा नहीं होती। अहिंसा तभी होती है जब हिंसा करने वाला समझ-पूर्वक उसे छोड़ता है। आचार्य भिक्षु ने कहा–प्रेरक का काम हिंसक को समझाने का है। अहिंसा के क्षेत्र में वह यहीं तक पहुंच सकता है। हिंसा तो तब छूटेगी जब हिंसा करने वाला उसे छोड़ेगा।[२]

6. साध्य-साधनवाद

साध्य और साधन एक ही है, यह सुनकर संभव है कि आप पहले क्षण असमंजस में पड़ जाएं। तर्कशास्त्र आपको कार्य-कारण में भेद बतलाता है। वही धारणा आपकी साध्य और साधन के बारे में होगी। दो क्षण के लिए आप तर्कशास्त्र भुला दीजिए। अभी हम आध्यात्मिक क्षेत्र में घूम रहे हैं। हृदय परिवर्तन का अर्थ ही आध्यात्मिकता है। दिन हो या रात, अकेला हो या परिषद के बीच, सोया हुआ हो या जागृत, प्रत्येक स्थिति में जो हिंसा से दूर रहता है, वह आध्यात्मिक है और दूर रहने की वृत्ति ही अध्यात्म है।

आध्यात्मिक जगत का साध्य है आत्मा की पवित्रता और उसका साधन वही है। आत्मा की अपवित्रता कभी भी आत्मिक पवित्रता का साधन नहीं बन सकती। पहले क्षण का साधन दूसरे क्षण में साध्य बन जाता है और वही उसके अगले चरण का साधन बन जाता है। पहले क्षण का जो साध्य है वह अगले क्षण के लिए साधन है। पवित्रता ही साध्य है और वही साधन है।

साध्य और साधन की एकता के विचार को आचार्य भिक्षु ने जो सैद्धांतिक रूप दिया, वह उनसे पहले नहीं मिलता। शुद्ध साध्य के लिए साधन भी शुद्ध

---

१. अणुकम्पा री चौपई : ५.१५

२. अणुकम्पा री चौपई : ८.५१ :
त्यांसूं सरीदादिक रो संभोग टाले नें, ग्यांनादिक गुण रो राखें भेलापो।
उपदेश देइ निरदावें रहिणों, पेंलों समझे नें टालें तो टलसी पापो॥

होने चाहिए। इस विचार को उनकी भाषा में जो अभिव्यक्ति मिली, वह उनसे पहले नहीं मिली। साध्य और साधन की सिद्धि का सिद्धांत अब राजनीतिक चर्चा में भी उतर आया है। एम्मा गोल्डमेन, जिनके विचार बड़े क्रांतिकारी कहे जाते हैं, उन्होंने लंदन में एक भाषण में कहा था–'सबसे हानिकारक विचार यह है कि साध्य ठीक है तो उसके लिए हर तरह के साधन ठीक समझे जाएंगे। अंत में साधन ही साध्य बन जाते हैं और असली साध्य पर दृष्टि ही नहीं जाती।' स्वयं ट्राटस्की ने लिखा है–'जिसका लक्ष्य साध्य पर रहता है वह साधनों की उपेक्षा नहीं कर सकता, किंतु शायद उसने यह नहीं समझा कि साधन का कितना बड़ा प्रभाव साध्य पर पड़ता है। बुरे साधनों से तो बुरा साध्य ही प्राप्त होगा, इसलिए चाहे जैसे साधन प्रयुक्त करने का सिद्धांत कभी उचित नहीं हो सकता।'[१]

आचार्य भिक्षु ने दो शताब्दी पूर्व कहा था–'शुद्ध साध्य का साधन अशुद्ध नहीं हो सकता और शुद्ध साधन का साध्य अशुद्ध नहीं हो सकता। मोक्ष साध्य है और उसका साधन है संयम। वह संयम के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। जो व्यक्ति लड्डुओं के लिए तपस्या करते हैं, वे कभी भी धर्मी नहीं होते और जो तपस्या करने वालों को लड्डू खिलाते हैं, वे भी धर्मी नहीं हैं।'[२]

पं. जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है–'गांधीजी ने हमें सबसे बड़ी शिक्षा यह दी कि हमारे साधन पवित्र होने चाहिए, क्योंकि जैसे हमारे साधन होंगे, वैसे ही हमारे साध्य और ध्येय भी होंगे।'

एक योग्य साध्य तक पहुंचने के साधन भी योग्य होने चाहिए। यह बात एक श्रेष्ठ नैतिक सिद्धांत ही नहीं बल्कि एक स्वस्थ व्यावहारिक राजनीति मालूम पड़ती थी, क्योंकि जो साधन अच्छे नहीं होते, वे प्रायः साध्य का ही अंत कर देते हैं और उनमें नई समस्याएं तथा कठिनाइयां खड़ी हो जाती हैं।'[३]

'जो साधन अच्छे नहीं होते, वे अक्सर साध्य का ही अंत कर देते हैं इसका उदाहरण आचार्य भिक्षु ने प्रस्तुत किया है। देव, गुरु और धर्म की उपासना धार्मिक का साध्य है। उपासना का साधन है अहिंसा, किंतु जो व्यक्ति

१. अहिंसा की शक्ति (रिर्चड वी. ग्रेग), पृ. ९०

२. श्रावक ना बारे व्रत : १२.२२ :

ते तो अरथी छे एकंत पेट रो, ते मजूरीया तणी छे पांत जी।
त्यांरा जीव रो कार्य सझे नहीं, उलटी घाली गला मांहें रांत जी॥

३. राष्ट्रपिता, पृ. ३६

हिंसा के द्वारा उनकी उपासना करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यक् दृष्टि वह है, जो धर्म के लिए हिंसा नहीं करता।'[१]

वर्तमान राजनीति में दो प्रकार की विचारधाराएं हैं–साम्यवादी और इतरसाम्यवादी। जनता का जीवन-स्तर ऊंचा करना, दोनों का लक्ष्य है, पर पद्धतियां दोनों की भिन्न हैं।

साम्यवादी विचारधारा यह है–'लक्ष्य की पूर्ति के लिए साधन की शुद्धि का विचार आवश्यक नहीं है। लक्ष्य यदि अच्छा है तो उसकी पूर्ति के लिए बुरे साधनों का प्रयोग भी आवश्यक हो तो वह करना चाहिए। एक बार थोड़ा अनिष्ट होता है और आगे इष्ट अधिक होता है।'[२] गांधीवादी विचार यह है–'जितना महत्त्व लक्ष्य का है, उतना ही साधन का। लक्ष्य की पूर्ति येन-केन प्रकारेण नहीं, किंतु उचित साधनों के द्वारा ही करनी चाहिए।'

आचार्य भिक्षु के समय में भी साधन-शुद्धि के विचार को महत्त्व न देने वाली मान्यता थी। उसके अनुयायी कहते थे–प्रयोजनवश धर्म के लिए हिंसा का अवलंबन लिया जा सकता है। एक बार थोड़ी हिंसा होती है, किंतु आगे उससे बहुत धर्म होता है।'

आचार्य भिक्षु ने कहा कि बाद में धर्म या पाप होगा, इससे वर्तमान अच्छा या बुरा नहीं बनता। कार्य की कसौटी वर्तमान ही है। कुछ जैन लोग दूसरों को लड्डू खिलाकर उनसे तपस्या कराते थे। उनका विश्वास था कि वे उपवास करेंगे, उससे हमें धर्म होगा। आचार्य भिक्षु इस अभिमत के आलोचक थे। उनका सिद्धांत था कि पीछे जो करेगा, उसका फल उसे होगा, किंतु लड्डू खिलाने में धर्म नहीं है।[३]

आगे धर्म करेगा, इसलिए वर्तमान में उसके लिए साध्य के प्रतिकूल साधन का प्रयोग किया जाए, यह युक्ति संगत नहीं। दया उपादेय तत्त्व है।

१. विरत इविरत री चौपई : १.३५, ३७।

२. वही : १.४० :
कहे म्हें पाप करां थोडो सो, पछे होसी धर्म अपारो रे।
सावद्य कांम करां इण हेतें, तिणथी खेवो पारो रे॥

३. श्रावक ना बारे व्रतः ७.२९-३० :
कोइ कहे लाडू खवायां धर्म, ओ तप कर म्हारा काटसी कर्म।
तिणसूं म्हें ओरां ने लाडूड़ा खवावां, पछे लाडूआं साटे म्हें उवास करावां॥
पछै तो उ करसी ते उणनें होय, लाडू खवायां धर्म म जाणो कोय।
लाडू खाधां खवायां तो एकंत पाप, ते श्री जिण मुख सूं भाख्यो छै आप॥

अहिंसा का पालन वही कर सकता है, जिसका मन दया से भीगा हुआ हो, पर साधन की विकृति से दया भी विकृत बन जाती है। एक आदमी मूली खा रहा है। दूसरे के मन में मूली के जीवों के प्रति दया उत्पन्न हुई। उसने बल-प्रयोग किया और जो मूली खा रहा था, उसके हाथ से वह छीन ली। दया का यह साधन शुद्ध नहीं है। हिंसक वही होता है, जो हिंसा करे, जिसके मन में हिंसा का भाव हो। अहिंसक भी वही होता है, जो अहिंसा का पालन करे, जिसके मन में अहिंसा का भाव हो। बलात् किसी को हिंसक या अहिंसक नहीं बनाया जा सकता। भोग धर्म नहीं है, यह जानकर यदि कोई बलात् किसी के भोगों का विच्छेद करता है, तो वह अधर्म करता है।[१]

जिनके मन में दया का भाव उठा, उनके लिए दया का साधन है उपदेश और जिसके मन में दया का भाव उत्पन्न करना है उसके लिए दया का साधन है हृदय परिवर्तन। आत्मवादी का साध्य है मोक्ष-आत्मा का पूर्ण विकास। उसके साधन हैं सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र।[२] अज्ञानी को ज्ञानी, मिथ्यादृष्टि को सम्यक् दृष्टि और असंयमी को संयमी बनाना साध्य के अनुकूल है।[३]

यह साध्य और साधन की संगति है। इनकी विसंगति तब होती है जब या तो साध्य अनात्मिक होता है या साधन। यदि कोई व्यक्ति जीवों को मारकर, झूठ बोलकर, चोरी कर, मैथुन सेवन कर और धन देकर, इसी प्रकार अठारह पापों का सेवन कर जीवों की रक्षा करता है, यह जीव रक्षा का सही तरीका नहीं

१. विरत इविरत री चौपई : १.३३, ३४:
मूला गाजर नें काचो पांणी, कोइ जोरी दावें लें खोसी रे।
जे कोइ वस्त छोड़ावें बिनां मन, इण विध धर्म न होसी रे॥
भोगी नां कोइ भोगज रूंधें, वले पाडें अंतरायो रे।
माहामोहणी कर्मज बांधे, दसाश्रुतखंध मांहिं बतायो रे॥

२. (क) तत्त्वार्थ १/१ सूत्र
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग :
(ख) अणुकम्पा री चौपई, ४.१७ :
ग्यानं दरसण चारित तप विनां, ओर मुगिति रो नहीं उपाय हो।
छोडा मेला उपगार संसार नां, तिण थी सद गति किण विध जाय हो॥

३. अणुकम्पा री चौपई : ४.१९.२० :
अग्यांनी रो ग्यांनी कीयां थकां, हुवों निश्चें पेला रो उधार हो।
कीयों मिथ्याती रो समकती, तिण उतरीयों भव पार हो॥
असंजती नें कीयो संजती, ते तों मोष तणां दलाल हो।
तपसी कर पार पोंहचावीयों, तिण मेट्या सर्व हवाल हो॥

है। यदि हिंसा के द्वारा जीव-रक्षा करने में थोड़ा पाप और बहुत धर्म हो, थोड़े या छोटे जीव मारे जाएं, वह थोड़ा पाप और बहुत या बड़ें जीवों की रक्षा हुई, वह बहुत धर्म हो तो फिर असत्य आदि सभी अकृत कार्यों के द्वारा ऐसा होगा। हिंसा के द्वारा जीव-रक्षा करने में पाप और धर्म दोनों माने जाएं तथा शेष अकृत्य कार्यों के द्वारा जीव-रक्षा करने में कोरा पाप माना जाए, यह न्याय नहीं है।[१]

एक जीव को मारकर दूसरे जीव की रक्षा करना, यह सूत्र में कहीं नहीं कहा गया है। यह भगवान की वाणी नहीं है।[२]

अशुद्ध साधन की आलोचना करते हुए महात्मा गांधी ने लिखा है–'यह तो कहीं नहीं लिखा है कि अहिंसावादी किसी को मार डाले। उसका रास्ता तो बिल्कुल सीधा है। एक को बचाने के लिए वह दूसरे की हत्या नहीं कर सकता।'[३] जैन-धर्म में दया का रहस्य है–दुराचारी को समझा-बुझाकर सदाचारी किया जाए। यदि कोई चोर, हिंसक, व्यभिचारी आदि है तो उसे उपदेश देकर अधर्मी से धर्मी बनाया जाए।[४]

महात्मा गांधी के शब्दों में उसका (अहिंसक का) कर्तव्य तो सिर्फ विनम्रता के साथ समझाने-बुझाने में है।'[५] यदि एक अशुद्ध साधन का प्रयोग किया जाए तो नियंत्रण की शृंखला ढीली हो जाती है। आचार्य भिक्षु ने इस तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है–दो वेश्याएं कसाई -खाने में गईं, जीवों को बचाने का संकल्प किया। एक ने अपने आभूषण दिए और जीवों की रक्षा की और दूसरी ने अनाचार का सेवन किया और जीवों की रक्षा की।

१. अणुकम्पा री चौपई : ७.२१-२४ :
जीव मारें झूठ बोल नें, चोरी करनें हो पर जीव बचाय।
वले करें अकार्य एहवा, मरता राख्या हो मइथुन सेवाय॥
धन दे राखें पर प्रांण नें, क्रोधादिक हो अठारें सेवाय।
ए सावद्य कामं पोतें करी, पर जीवां नें हो मरता राखें ताय॥
जो हिंसा करे जीव राखीयां, तिणमें होसी हो धर्म नें पाप दोय।
तो इम अठारेंइ जांणजों, ए चरचा ने हो विरलो समझें कोय॥
जो एकण में मिश्र कहें, सतरां में हो भाषा बोलें ओर।
उंधी सरधा रों न्याय मिलें नहीं, जब उलटी होकर उठे झोड॥

२. अणुकम्पा री चौपई : ७.२५ :
जीव मारें जीव राखणा, सूतर में हो नहीं भगवंत वेंण।
उंधो पंथ कुगुरां चलावीयों, सुध न सूझें हो फूटा अंतर नेंण॥

३. हिन्द स्वराज्य, पृ. ७५-७६

४. अणुकम्पा री चौपई : ५.५ :

५. हिन्द स्वराज्य : पृ. ७६

आभूषण देकर जीवों की रक्षा करना, यह अहिंसा का शुद्ध साधन नहीं है। यदि इसे प्रयोजनीय माना जाए तो अनाचार सेवन कर जीवों की रक्षा करने को अप्रयोजनीय कहने का कोई तात्त्विक आधार नहीं रहता।[१]

7. धन से धर्म नहीं

धन से धर्म नही होता, यह वाणी साधन-शुद्धि की भूमिका पर ही आलोकित हुई। भृगु ने अपने पुत्रों से कहा–'जिनके लिए लोग तप करते हैं, वे धन, स्त्रियां, स्वजन और कामभोग तुम्हारे अधीन हैं, फिर किसलिए तुम तप करना चाहते हो।'[२]

भृगु-पुत्रों ने कहा–पिताश्री! धर्माचरण में स्त्री, धन, स्वजन और काम भोगों का क्या प्रयोजन है? धर्म की आराधना में इनका कोई अर्थ नहीं है। हम श्रमण बनेंगे और अप्रतिबद्ध विहारी होकर धर्म की आराधना करेंगे।[३]

आचार्य भिक्षु ने इसी को आधार मानकर कहा–देव, गुरु और धर्म–ये तीनों अनमोल हैं। इन्हें धन से खरीदा नहीं जा सकता। जो धन के द्वारा मोक्षधर्म की आराधना बतलाते हैं, वे लोगों को फंदे में डालते हैं।[४] उस समय ऐसी

---

१. अणुकम्पा री चौपई, ७.५१-५४ :
दोय वेस्या कसाइवाडें गइ, करता देख्या हो जीवां रा संघार।
दोनूं जण्यां मतो करी, मरता राख्या हो जीव एक हजार॥
एकण गेंहणों देइ आपणों, तिण छोडाया हो जीव एक हजार।
दूजी छोडाया इण विधें, एकां दोयां हो चोथों आश्रव सेवार॥
एकण नें पाषंडी मिश्र कहें, तो दूजीं नें हो पाप किण विध होय।
जीव बरोबर बचावीया, फेर पडीयो हो ते तो पाप में जोय॥
एकण सेवायो आश्रव पांचमों, तो उण दूजी हो चोथो आश्रव सेवाय।
फेर पड्यों तो इण पाप में धर्म होसी हो ते तो सरीषों थाय॥

२. उत्तराध्ययन : १४.१६
धणं पभूयं सह इत्थियाहिं सयणा तहा कामगुणा पगामा।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो तं सव्व साहीणमिहेव तुब्भं॥

३. वही, १४:१७
धणेण किं धम्मधुराहिगारे, सयणेण वा कामगुणेहि चेव।
समणा भविस्सामु गुणोहधारी, बहिं विहारा अभिगम्म भिक्खं॥

४. अणुकम्पा री चौपई : ७.६३-६४
त्रिविधे त्रिविधे छकाय हणवी नहीं, एहवी छें हो भगवंत री वाय।
मोल लीयां धर्म कहें मोष रो, ए फंद मांड्यो हो कुगुरां कुबुद चलाय॥
देव गुर धर्म रतन तीनूं, सूतर में हो जिण भाष्या अमोल।
मोल लीयां नहीं नींपजें, साची सरधो हो आंख हिया री खोल॥

परंपरा थी कि जैन लोग कसाईखाने में जाते और कसाइयों को धन देकर बकरों को 'अमरिया' करवाते-छुड़वाते। आचार्य भिक्षु ने इस परंपरा की इसलिए आलोचना की कि यह दया का सही तरीका नहीं है। उन्होंने कहा—'कसाई को समझा-बुझाकर हिंसा से विरत किया जाए, दया का यह सही साधन है।'

चिंतन की दो धाराएं हैं—लौकिक और आध्यात्मिक। लौकिक धारा का जो साध्य है, वह आध्यात्मिक धारा का नहीं है और साधन भी दोनों के भिन्न हैं। पहली का साध्य है जीवन का अभ्युदय और दूसरी का साध्य है आत्मा की मुक्ति। अभ्युदय पदार्थों की वृद्धि से होता है और मुक्ति उनके त्याग से होती है। अभ्युदय का साधन है परिग्रह। परिग्रह के लिए हिंसा करनी होती है। मुक्ति का साधन है ममत्व का त्याग, पदार्थ का त्याग और अंत में शरीर का त्याग। त्याग और अहिंसा में उतना ही संबंध है, जितना भोग और हिंसा में है। यदि हम दोनों धाराओं के साध्य और साधनों को अलग-अलग भूमिका से समझें, तो हम बहुत सारी उलझनों से बच जाते हैं और उन्हें मिश्रित दृष्टि से देखते हैं तो हम उलझ सकते हैं और धर्म विकृत हो जाता है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—'धर्म के साधन दो ही हैं—संवर और निर्जरा या त्याग और तपस्या।' यदि धन के द्वारा धर्म होता तो महावीर की धर्मदेशना विफल नहीं होती। भगवान को वैशाख शुक्ला दसमी को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। सभा में केवल देवताओं की उपस्थिति थी, मनुष्य कोई नहीं था। भगवान ने धर्मदेशना दी। देवताओं ने धर्म अंगीकर नहीं किया। कोई साधु या श्रावक नहीं बना, इसलिए माना जाता है कि भगवान की पहली देशना विफल हुई।[१] यदि धन से धर्म होता तो देवता भी धर्म कर लेते। भगवान की वाणी को विफल नहीं होने देते। देवताओं से व्रतों का आचरण होता नहीं और धन से धर्म नहीं होता, इसलिए भगवान की वाणी विफल हुई।[२]

भगवान की वाणी तब सफल हुई जब मनुष्यों ने व्रत ग्रहण किए, साधु और श्रावक बने।

---

१. अणुकम्पा री चौपई, १२, दु. ५
देवता आगें वांणी वागरी, थित साचववा कांम।
कोइ साध श्रावक हुवो नहीं, तिण सूं वांणी निरफल गई आंम॥

२. वही : १२, दु. ६, ७
जो धन थकी धर्म नीपजें, तो देवता पिण धर्म करंत।
वीर वांणी सफली करे, मन माहें पिण हरष धरंत॥
वरत पचखांण न हुवें देवता थकी, धन सूं पिण धर्म न थाय।
तिण सूं वीर वांणी निरफल गई, तिणरो न्याय सुणों चित्त ल्याय॥

धन उपकार का साधन है, पर आध्यात्मिक उपकार का साधन बनने की क्षमता उसमें नहीं है। कोई समर्थ व्यक्ति किसी दरिद्र को धन देकर सुखी बना देता है, यह सांसारिक उपकार है। सांसारिक उपकार से संसार की परंपरा चलती है और आध्यात्मिक उपकार से संसार का अंत होता है अर्थात् मुक्ति होती है। साध्य वही सधता है, जिसे अनुकूल साधन मिले।[१]

कोई लाख रुपये देकर मरते हुए जीवों को छुड़ाता है, यह संसार का उपकार है। यह आपका सिखाया हुआ धर्म नहीं है। इससे आत्ममुक्ति नहीं होती।[२]

आचार्य भिक्षु के चिंतन का निचोड़ यह है कि परिग्रह, बल-प्रयोग और असंयम का अनुमोदन–ये अहिंसात्मक तत्त्व नहीं है, इसलिए मोक्ष के साधन भी नहीं हैं।

अपरिग्रह, हृदय-परिवर्तन और संयम का अनुमोदन–ये अहिंसात्मक तत्त्व हैं, इसलिए ये मोक्ष के साधन हैं।

आचार्य भिक्षु ने अहिंसा या दया के बारे में जो चिंतन दिया, वह बहुत विशाल है। उसके कई पहलू हैं, पर उसका मुख्य पहलू साध्य-साधन की चर्चा है। आचार्य भिक्षु के समूचे चिंतन को हम एक शब्द में बांधना चाहें तो उसे 'साध्य-साधनवाद' कह सकते हैं।

---

१. अणुकम्पा री चौपई : ११.३-५:

२. विरत इविरत री चौपई, १२.५

कोइ जीव छुड़ावे लाखां दाम दे, ते तो आपरो सीखायो नहीं धर्म हो।
ओ तो उपगार संसार नो, तिणसूं कटता न जाण्या आप कर्म हो॥

4. मोक्ष-धर्म का विशुद्ध रूप

1. चिंतन के निष्कर्ष

जितना प्रयत्न पढ़ने का होता है, उतना उसके आशय को समझने का नहीं होता। जितना प्रयत्न लिखने का होता है, उतना तथ्यों के यथार्थ संकलन का नहीं होता। अपने प्रति अन्याय न हो, इसका जितना प्रयत्न होता है, उतना दूसरों के प्रति न्याय करने का नहीं होता। गहरी डुबकी लगाने वाला गोताखोर जो पा सकता है, वह समुद्र की झांकी लगाने वाला नहीं पा सकता।

आचार्य भिक्षु के विचारों की गहराई विहंगावलोकन से नहीं मापी जा सकती। उन्होंने जो व्याख्याएं दीं, वे व्यावहारिक जगत को कैसी ही क्यों न लगें, पर उनमें वास्तविक सचाई है। दृष्टांत और निगमन तत्त्व को सरल ढंग से समझाने के लिए होते हैं। इनका प्रयोग मंद बुद्धिवालों के लिए होता है। इनके द्वारा उलझनें भी बढ़ती हैं।

पक्ष और विपक्ष दोनों कोटि के दृष्टांतों को छोड़कर सिद्धांत की आत्मा का स्पर्श किया जाए, तो आचार्य भिक्षु की सिद्धांत-वाणी के मौलिक निष्कर्ष ये हैं–

1. धर्म और अधर्म का मिश्रण नहीं होता।
2. अशुद्ध साधन के द्वारा साध्य की प्राप्ति नहीं होती।
3. बड़ों के लिए छोटे जीवों का घात करना पुण्य नहीं है।
4. गृहस्थ और साधु का मोक्षधर्म एक है।
5. अहिंसा और दया सर्वथा एक है।
6. हिंसा से धर्म नहीं होता।
7. लौकिक और आध्यात्मिक धर्म एक नहीं है।
8. आवश्यक हिंसा अहिंसा नहीं है।

2. मिश्र धर्म

कई दार्शनिकों की मान्यता है कि वनस्पति आदि एक इन्द्रिय वाले जीवों के घात में जो पाप है, उससे कई गुणा अधिक पुण्य मनुष्य आदि बड़े प्राणियों के पोषण में है। एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीव बहुत भाग्यशाली हैं। अतः बड़े जीवों के सुख के लिए छोटों का घात करने में दोष नहीं है।[१]

किंतु हिंसा की करणी में दया नहीं हो सकती और दया की करणी में हिंसा नहीं हो सकती। जिस प्रकार धूप और छांह भिन्न हैं, उसी प्रकार दया और हिंसा भिन्न हैं।[२]

दूसरी वस्तुओं में मिलावट हो सकती है, परंतु दया में हिंसा की मिलावट नहीं हो सकती। पूर्व और पश्चिम के मार्ग कैसे मिल सकते हैं?

विश्व की व्यवस्था बहुत विचित्र है। इसमें मिलने और बिछुड़ने की व्यवस्था भी है। सब तत्त्व मिलते-बिछुड़ते नहीं हैं। केवल पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है, जो मिलता है, बिछुड़ता है।

दूसरे महायुद्ध के बाद मीलों की यात्रा बढ़ी है। यातायात की सुविधाएं बढ़ी हैं। पर्यटन बढ़ा है। एक देश के लोगों का दूसरे देश के लोगों के साथ संपर्क बढ़ा। इस मिलन के साथ मिलावट भी बढ़ी, जो नैतिकता और स्वास्थ्य दोनों के लिए हानिकारक है। खाद्य में मिलावट होती है। दूध में, घी में, औषधि में और भी न जाने किन-किन पदार्थों में क्या-क्या मिलावट की जाती है।

आचार्य भिक्षु के जमाने में मिलावट का यह प्रकार नहीं था। खाद्य शुद्ध मिलता था। घी भी शुद्ध मिलता था। औषधि लेने वाले लोग कम थे। दूध में पानी मिलाने की प्रथा कुछ पुरानी है, पर आज जैसी व्यापक शायद नहीं थी। ऐसा क्यों होता है? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि धर्म-

---

१. अणुकम्पा री चौपई : ६.१६.२०
केइ कहें म्हें हणां एकेंद्री, पंचेंद्री जीवां रे तांई जी।
एकेंद्री मार पंचेंद्री पोष्यां धर्म घणों तिण मांहिं जी॥
एकेंद्री थी पंचेंद्री नां, मोटा घणा पुन भारी जी।
एकेंद्री मार पंचेंद्री पोष्यां, पाप न लागें लिगारी जी॥

२. वही, : ६.७० : ७१
हिंसा री करणी में दया नहीं छें, दया री करणी में हिंसा नांहीं जी।
दया नें हिंसा री करणी छें न्यारी, ज्यूं तावडो नें छांही जी॥
ओर वसत में भेल हुवें पिण, दया में नहीं हिंसा रो भेलो जी।
ज्यूं पूर्व नें पिछम रो मारग, किण विध खायें मेलो जी॥

प्रधान देश में ऐसा क्यों होता है? यहां इसकी लंबी चर्चा में नही जाना है। संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जब स्वार्थ धर्म पर हावी हो जाता है तब ऐसा होता है, जब धर्म रूढ़ि बन जाता है तब ऐसा होता है और जब धर्म पूजा जाता है तब ऐसा होता है।

आचार्य भिक्षु के सामने धर्म और अधर्म की मिलावट का प्रश्न था। यह प्रश्न कोई नया नहीं था। याज्ञिक लोग यज्ञ में धर्म और पाप दोनों मानते थे। उनका अभिमत यह रहा कि दक्षिणा देने में पुण्य होता है और पशु-वध में पाप।[१] यज्ञ में पाप थोड़ा होता है और पुण्य अधिक। कई जैन भी मानने लगे कि दया भावना से जीवों को मारने में पाप और धर्म दोनों होते हैं।[२] बड़े जीवों पर दया होती है, यह धर्म और छोटे जीवों की घात होती है यह पाप है। धर्म अधिक होता है और पाप थोड़ा, यह मिश्र दया है।

असंयति को दान देने में धर्म-अधर्म दोनों होते हैं। यह मिश्रदान का सिद्धांत है।[३] आचार्य भिक्षु ने धर्म और अधर्म की मिलावट का विरोध किया। उन्होंने कहा–प्रवृत्ति के दो स्रोत हैं–पहला रागद्वेषात्मक भाव और दूसरा वैराग्य भाव। पहले स्रोत से प्रवाहित प्रवृत्ति असम्यक् या अधर्म और दूसरे स्रोत से प्रवाहित प्रवृत्ति सम्यक् या धर्म कहलाती है।[४] अधर्म और धर्म की करणी अलग-अलग है। अधर्म करने से धर्म नहीं होता और धर्म करने से अधर्म नहीं होता।[५] एक करणी में दोनों नही हो सकते।[६] धर्म और अधर्म दो ही मार्ग हैं। तीसरा कोई मार्ग नहीं।[७]

१. सांख्य तत्त्व कौमुदी, पृ. २८, ३१
२. निन्व री चौपई ३ : दु. २ :
३. निन्व रास : गा. १४५ :
एक करणी करें तेहमें, नीपनों कहें धर्म नें पाप के।
एहवी करें छें परूपणा, मिश्र दांन री कीधीं छें थाप के।
४. विरत इविरत री चौपई : ढा. १२ दु. २ :
दोय करणी संसार में, सावद्य निरवद जांण।
निरवद करणी में जिण आगन्यां, तिणसूं पामें पद निरवांण॥
५. वही, ११.३६ :
पाप अठारें सेव्यां एकंत पाप, ते सेव्यां नहीं धर्म होयो रे।
पाप धर्म री करणी छें न्यारी, पिण मिश्र करणी नहीं कोयो रे॥
६. निन्व री चौपई : ३, दु. ३ :
७. श्रद्धा निर्णय री चौपई : १.१०५ :
धर्म अधर्म मारग दोय छें रे, पिण तीजो पंथ न कोय रे।
तीजो मिश्र मिथ्याती झूठो कहे रे, आप डूबें ओरां नें डबोय रे॥

दो ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते। एक व्यक्ति नदी के जल में खड़ा है। सिर पर धूप है। पैरों को ठंडक लग रही है और सिर को गर्मी। धूप और जल का संयोग सतत है, पर सर्दी और गर्मी की अनुभूति सतत नहीं होती। जिस समय गर्मी की अनुभूति होती है, उस समय सर्दी की नहीं होती और जिस समय सर्दी की होती है, उस समय गर्मी की नहीं होती।

योग्यता की दृष्टि से मनुष्य पांच इन्द्रिय वाला होता है। एक काल में वह एक ही इन्द्रिय से जानता है। जब एक आदमी सूखा लड्डू खाता है, तब उसे शब्द भी सुनाई देता है, उसे देखता भी है, उसकी गंध भी आती है, रस भी चखता है। लगता है पांचों की जानकारी या अनुभूति एक साथ हो रही है, परंतु ऐसा होता नहीं। इन सबका काल भिन्न होता है। दो ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते। दो क्रियाएं एक साथ हो सकती हैं, किंतु अविरोधी हों तो। दो विरोधी क्रियांए एक साथ नहीं हो सकतीं। दो प्रकार के विचार एक साथ नहीं हो सकते।

सम्यक् और असम्यक् दोनों क्रियाएं एक साथ नही हो सकती। अहिंसा और हिंसा, धर्म और अधर्म का आचरण एक साथ नहीं किया जा सकता। सांसारिक उपकार सांसारिक व्यवस्था का मार्ग है। आत्मिक उपकार मोक्ष की साधना का मार्ग है। मिथ्यादृष्टि इन दोनों को एक मानता है, सम्यक् दृष्टि इनको अलग-अलग मानता है।[१]

3. धर्म की अविभक्तता

अमृत सबके लिए समान है। झूठी खींचतान मत करो।[२]

मुक्ति का मार्ग सबके लिए एक है। मुमुक्षुभाव गृहस्थ में भी रहता है और मुनि में भी। मुनि गृहवास को छोड़ सर्वारंभ से विरत रहता है, इसलिए वह मोक्ष-मार्ग की आराधना का पूर्ण अधिकारी होता है। एक गृहस्थ गृहवास में रहकर सर्वारंभ से विरत नहीं हो पाता, इसलिए वह मोक्ष-मार्ग की आराधना के

---

१. अणुकम्पा री चौपई : ११.५२ :
संसार नें मोष तणा उपगार, समदिष्टी हुवें ते न्यारा-न्यारा जांणें।
पिण मिथ्याती नें खबर पडें नहीं सूधी, तिण सूं मोह कर्म वस उंधी तांणें॥

२. वही, २ दु. ३ :
साध श्रावक दोनूं तणी, एक अणुकंपा जाण।
इमरत सहु नें सारिषों, कूडी मत करों तांण॥

पथ का एक सीमा तक अधिकारी होता है, किंतु मोक्ष-मार्ग की आराधना का पथ दोनों के लिए एक है।[१] अंतर है केवल मात्रा का। साधु और श्रावक दोनों रत्नों की मालाएं हैं–एक बड़ी और दूसरी छोटी।[१] साधु और श्रावक दोनों लड्डू हैं–एक पूरा और दूसरा अधूरा। साधु केवल व्रती होता है और श्रावक व्रताव्रती। व्रत की अपेक्षा से साधु रत्नों की बड़ी माला है। श्रावक व्रत की अपेक्षा से रत्नों की छोटी माला है, अव्रतों की अपेक्षा वह कुछ और भी है। साधु के लिए अहिंसा महाव्रत है और श्रावक के लिए अहिंसा अणुव्रत है। अणुव्रत महाव्रत का ही एक लघुव्रत है, उससे अतिरिक्त नहीं है। मोक्ष की आराधना के लिए जो साधु करता है या कर सकता है, वही कार्य श्रावक के लिए करणीय है। जो कार्य साधु के लिए करणीय नहीं है, वह मोक्ष-मार्ग की आराधना के लिए श्रावक के भी करणीय नहीं है। श्रावक अव्रती भी होता है, इसलिए समाज-व्यवस्था की दृष्टि से उसके लिए वैसा भी करणीय होता है, जो एक साधु के लिए करणीय नहीं होता।

साधु के लिए हिंसा सर्वथा अकरणीय है, मोक्ष की दृष्टि से श्रावक के लिए भी वह सर्वथा अकरणीय है, किंतु श्रावक कोरा मोक्षार्थी नहीं होता, अर्थ और काम का भी अर्थी होता है। अर्थ और काम मोक्ष के साधन नहीं हैं। मोक्ष के प्रति तीव्र मनोभाव किसी एक व्यक्ति में होता है और जिसके वह होता है, उसके लिए मोक्ष के प्रतिकूल जो भी है, वह करणीय नहीं रहता, किंतु जिनका मनोभाव मोक्ष के प्रति इतना तीव्र नहीं होता, वे मोक्ष के बाधक कार्यों को भी करणीय मानते हैं। मोक्ष में बाधा आए, यह उनकी चाह न भी हो, किंतु मोह का ऐसा उदय होता है कि वे मोक्ष के बाधक कार्यों को छोड़ने में अपने को असमर्थ पाते हैं।

असामर्थ्य के कारण वे जीवन का जो मार्ग चुनते हैं, उसमें उनके करणीय कार्यों की सीमा विस्तृत हो जाती है। मोक्ष का साधन धर्म है, हिंसा में धर्म नहीं है, भले ही फिर वह आवश्यक हो। आचार्य भिक्षु ने कहा–प्रयोजनवश या निष्प्रयोजन किसी भी प्रकार से हिंसा की जाए, उससे हित नहीं होता। जो धर्म

१. विरत इविरत री चौपई : १.२८ :
साध श्रावक नों एकज मारग, दोय धर्म बताया रे।
ते पिण दोनूं आग्या मांहें, मिश्र अणहूंतो ल्याया रे॥
२. विरत इविरत री चौपई, १.१ :
साध नें श्रावक रतनां री माला, एक मोटी दूजी नांनी रे।
गुण गूंथ्या च्यारूं तीरथ नां, इविरत रह गइ कांनी रे॥

के लिए हिंसा को आवश्यक मानते हैं, उनका बोधि-बीज अर्थात् सम्यक्-दृष्टिकोण ही लुप्त हो जाता है।[१]

महात्मा गांधी ने आवश्यक हिंसा के विषय में लिखा है–किसान जो अनिवार्य हिंसा करता है, उसे मैंने कभी अहिंसा में गिनाया ही नहीं है। यह वध अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही गिना जाए, किंतु अहिंसा तो निश्चय ही नहीं है।[२]

4. अपना-अपना दृष्टिकोण

कोई सूई की नोक में रस्सा पिरोए वह आगे कैसे पैठे? वैसे ही कोई आदमी हिंसा में धर्म बताए, वह बुद्धि में कैसे समाए?[३]

जो जीवों की हिंसा में धर्म बतलाते हैं, वे जीवों के प्राणों की चोरी करते हैं। वे भगवान की आज्ञा का लोप कर तीसरे व्रत का विनाश करते हैं।'[४]

कुछ लोग कहते थे–धर्म के लिए हिंसा की जाए, वह विहित है। आचार्य भिक्षु ने कहा–'देव, गुरु और धर्म के लिए हिंसा करने वाला मूढ़ है, वह जिन-मार्ग के प्रतिकूल जा रहा है। वह कुगुरु के जाल में फंसा हुआ है।[५]

जो सम्यक् दृष्टि होता है, वह धर्म के लिए हिंसा नहीं करता।[६] जैसे लहू से भरा हुआ पीतांबर लहू से साफ नहीं होता, वैसे ही हिंसा से होने वाली मलिनता हिंसा से नहीं धुलती।[७]

---

१. अणुकम्पा री चौपई : ६.४८ :
अर्थ अनर्थ हिंसा कीधां, अहेत रो कारण तासो जी।
धर्म रें कारण हिंसा कीधां, बोध बीज रो नासो जी॥

२. अहिंसा, पृ. ५०

३. आचार री चौपई : ६.२८ :
सूइ नाके सिंधर पोवे, कहो किम आगे पेसे।
ज्यूं हिंसा मांहे धर्म परूपे, ते सालोसाल न बेसे रे॥

४. अणुकम्पा री चौपई : ६.३२ :
ज्यां जीवां ने मार्‌यां धर्म परूपें, त्यां जीवां रो अदत्त लागो जी।
वले आग्या लोपी श्री अरिहंत नीं, तिण सूं तीजोइ महावरत भागो जी॥

५. विरत इविरत री चौपई : १.३५ :
देव गुर धर्म नें कारण, मूढ हणें छकायो रे।
उलटा पडीया जिण मार्ग थी, कुगुरां दीया बेंहकायो रे॥

६. वही, १.३७ :
वीर कह्यो आचांरग मांहें, जिण ओलखीयो तंत सारो रे।
समदिष्टी धर्म नें कारण, न करें पाप लिगारो रे॥

७. वही, १.३९ :
लोही खरड्यो जो पितंबर, लोही सूं केम धोवायो रे।
तिम हिंसा में धर्म कीयां थी, जीव उजलो किम थायो रे॥

कुछ लोग कहते थे–धर्म के लिए जीव मारने में पाप इसलिए नहीं है कि उस समय मन शुद्ध होता है। मन शुद्ध हो तब जीव मारने में हिंसा नहीं है।

आचार्य भिक्षु ने कहा–'जान-बूझकर प्रयत्नपूर्वक जीवों को मारने वालों के मन को शुद्ध बतलाते हैं और अपने आपको जैन भी कहते हैं, यह कितने आश्चर्य की बात है।'[१]

कुछ लोग कहते थे–जीवों को मारे बिना धर्म नही होता। शुद्ध मन से जीवों को मारने में दोष नहीं है।[२]

कुछ लोग कहते थे–जीवों को मारे बिना मिश्र धर्म नहीं होता। जब मरते हैं, उसका थोड़ा पाप होता है, पर दूसरे बड़े जीवों को तृप्ति मिलती है, यह धर्म है।[३]

आचार्य भिक्षु ने कहा–धर्म और अधर्म का मिश्रण करने के लिए जीवों के प्राण भी लूटते हैं और मन को शुद्ध भी बतलाते हैं, यह कैसी विडंबना है।[४]

दुनिया में मात्स्य न्याय चल रहा है। बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है, वैसे ही बड़े जीव छोटे जीवों को खा रहे हैं। खाना स्वाभाविक-सा है, पर इस कार्य में धर्म बतलाते है, उनमें सुबुद्धि नहीं।[५]

नीतिशास्त्र कहता है–जब स्वाभाविक प्रवृत्ति और औचित्य में विरोध होता है, तभी कर्तव्यता की आवश्यकता होती है और कर्तव्य-शास्त्र का निर्माण ऐसी ही स्थिति में होता है। यदि मनुष्य का कर्तव्य वही मान लिया जाए, जिसकी ओर मनुष्य की सहज प्रेरणा है, तो कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय की अपेक्षा नहीं रहेगी।[६]

---

१. विरत इविरत री चौपई, : ९ दु. ३ :
जीव मारें छें उदीर नें, तिणरा चोखा कहें परिणांम।
ते ववेक विकल सुध बुध बिनां, वले जेंनी धरावे नांम॥

२. वही, १२.३४ :

३. वही, १२.३५ :

४. वही :१२.३६ :
केइ धर्म ने मिश्र करवा भणी, छ काय रो करें घमसांण हो।
तिणरा चोखा परिणांम किहां थकी, पर जीवां रा लूटे छे प्रांण हो॥

५. अणुकम्पा री चौपई : ७ दु. १ :
मछ गलागल लोक में, सबला ते निबला ने खाय।
तिण में धर्म परूपीयों, कुगुरां कुबुद्ध चलाय॥

६. नीतिशास्त्र, पृ. १९९

बड़े जीवों में छोटे जीवों का उपभोग करने की सहज प्रवृत्ति है, पर इसमें औचित्य नहीं है, इसलिए यह अकर्तव्य है।

कुछ लोग कहते थे– जीवों को जिलाना धर्म है।

आचार्य भिक्षु ने कहा–'जो साधु हैं, जिनकी लय मुक्ति से लग चुकी है, वे जीने-मरने के प्रपंच में नहीं फंसते।'[१]

गृहस्थ ममता में बैठा है और साधु समता में। साधु धर्म और शुक्ल ध्यान में रत हैं, इसलिए जन्म-मरण की चिंता में नहीं फंसते।[२]

गृहस्थ में ममत्व होता है, इसलिए वह जिलाने का यत्न करता है। कुछ लोग कहते थे–जिसे उपदेश न दिया जा सके अथवा समझाने पर भी जिसका हृदय न बदले उसको हिंसा से बलपूर्वक रोकना भी धर्म है।

आचार्य भिक्षु ने कहा–'एक के चांटा मारना और दूसरे का उपद्रव मिटाना, यह रागद्वेष का कार्य है।'[३]

समाज में ऐसा होता है, पर इसे धर्म की कोटि में नहीं रखा जा सकता। गृहस्थ जो कुछ करता है, वह धर्म ही करता है, ऐसा नहीं है। सामाजिक जीवन को एक अनात्मवादी सुचारू रूप से चला सकता है। समाज के क्षेत्र मे दायित्व और कर्तव्य का जितना व्यापक महत्त्व है, उतना धर्म का नहीं।

धर्म वैयक्तिक वस्तु है। यद्यपि उसका परिणाम समाज पर भी होता है, पर उसका मूल व्यक्ति हित में सुरक्षित है। उसकी आराधना व्यक्तिगत होती है और वह व्यक्ति के ही पवित्र हृदय से उत्पन्न होता है। अनात्मवादी की दृष्टि में धर्म का कोई स्वतः सम्मत मूल्य नहीं होता, लेकिन समाज के प्रति होने वाले दायित्वों और कर्तव्यों का उसकी दृष्टि में भी मूल्य होता है, पर आज के बुद्धिवादी युग में ऐसा करना आवश्यक नहीं है।

१. अणुकम्पा री चौपई : २.४ :
जीवणों मरणों नहीं चावें, साध क्यांने बंधावें छोडावें।
ज्यांरी लागी मुगत सूं ताली, नहीं करें तिके रूखवाली॥

२. वही, २.१२
गृहस्थ नां सरीर ममता में साधु बेठों समता में।
रह्या धर्म सुकल ध्यांन ध्याई, मूंआ गयां फिकर न कांई॥

३. वही : २.१७ :
एकण रे दे रे चपेटी, एकण रो दे उपद्रव मेटी।
ए तो राग द्वेष नों चालो, दसवीकालक संभालो॥

कुछ लोग कहते थे–हम जीवों की रक्षा के लिए उपदेश देते हैं, इससे बहुत जीवों को सुख होता है।[1]

आचार्य भिक्षु ने कहा–'हम हिंसक को पाप से बचाने के लिए उपदेश देते हैं। एक व्यक्ति समझकर हिंसा को छोड़ता है, इसे सुख मिला है, इसका जन्म-मरण का संकट टला है।[2] इस बात को ज्ञानी जान सकता है।'

एक सेठ के दो पत्नियां थीं। एक धार्मिक थी और दूसरी धर्म का मर्म नहीं जानती थी। सेठ विदेश गया हुआ था। अकस्मात् वहीं उसकी मृत्यु हो गई। घर पर समाचार आया। एक पत्नी फूट-फूटकर रोने लगी। दूसरी पत्नी, जो धार्मिक थी, नहीं रोई। उसने समभाव रखा। लोग बहुत आए। सबने देखा–एक पत्नी रो रही है, दूसरी शांत है। लोगों ने उसको सराहा, जो रो रही थी। जो नहीं रो रही थी, उसकी निंदा की।

उन्होंने कहा–'जो रोती है, वह पतिव्रता है, उसे पति के मरने का कष्ट हुआ है। यह पतिव्रता नहीं है, इसे पति के मरने का कोई कष्ट नहीं है, भला यह क्यों रोए? यह तो चाहती थी कि पति मर जाए, फिर इसके आंसू क्यों आए? संयोगवश साधु भी उधर से आ गए। उन्होंने उसे सराहा, जो समभाव से बैठी थी। लौकिक दृष्टि से देखने वालों को वह अच्छी लग रही थी, जिसकी आंखों में आंसू थे। लोकोत्तर दृष्टि से देखने वालों को वह अच्छी लग रही थी, जिसकी आंखों में समभाव लहरा रहा था। यह अपना-अपना दृष्टिकोण है।[3]

कोई गृहस्थ किसी साधु से व्रत लेकर अपने घर जाने लगा। बीच में दो मित्र मिले, एक ने कहा–'जो व्रत लिया है, उसे अच्छी तरह से पालना।' दूसरे ने कहा–शरीर का ध्यान रखना, कुटुंब का प्रतिपालन करना। इन दोनों मित्रों

१. अणुकम्पा री चौपई, ५.१६.१७ :

हिवें कोइक अग्यांनी इम कहें, छ काय काजें हो द्यां छां धर्म उपदेस।
एकण जीव नें समझावीयां, मिट जाए हो घणां जीवां रो कलेश।
छ काय घरे साता हुइ, एहवो भाषें हो अण तीरथी धर्म।
त्यां भेद न पायो जिण धर्म रो, ते तो भूला हो उदें आयो मोह कर्म॥

२. वही, ५.१८, १६ :

हिवें साध कहें तुम सांभलों, छ काया रे हो साता किण विध थाय।
सुभ असुभ बांध्या ते भोगवें, नहीं पाम्या हो त्यां मुगत उपाय॥
हणवां सूंस कीया छ काय नां, तिणरे टलीया हो मेला असुभ कर्म पाप।
ग्यांनी जाणें साता हुईं एहनें, मिट गया हो जनम मरण संताप॥

३. भिक्खु दृष्टान्त, १३०

में जो व्रत में दृढ़ रहने की सलाह देता है, वह धर्म का मित्र है और जो अव्रत के सेवन की सलाह देता है, वह धार्मिक मित्र नही है।[1] यह अपना-अपना दृष्टिकोण है।

एक राजा की रानी एक दिन गवाक्ष में बैठी-बैठी राजमार्ग की ओर झांक रही थी। उस समय एक युवक उधर से जा रहा था। संयोगवश दोनों की दृष्टि मिल गई। युवक की सुंदरता से रानी खिंच गई और रानी के सौंदर्य ने युवक को मोह लिया। दोनों की तड़प ने उपाय निकाल लिया। वह युवक 'फूला मालिन', जो रनिवास में पुष्पहार लाया करती थी, उसकी पुत्रवधू बनकर महलों में आने लगा। एक दिन षडयंत्र का भंडाफोड़ हो गया।

राजा ने रानी और युवक को इसलिए मृत्युदंड दिया कि वे दुराचार करते थे, मालिन को इसलिए मृत्युदंड दिया कि वह दुराचार करा रही थी। राजाज्ञा से वे बाजार के बीच बिठा दिए गए। राजपुरुष गुप्त रूप से खड़े थे। जो लोग उन्हें धिक्कारते, वे चले जाते और जिन्होंने उनकी प्रशंसा की, उन्हें पकड़ लिया गया। राजा ने उन्हें भी इसलिए मृत्युदंड दिया कि वे दुराचार का अनुमोदन कर रहे थे।

एक आदमी कोई कार्य करता है, दूसरा उसे करवाता है और तीसरा उसका अनुमोदन करता है, ये तीनों एक ही श्रेणी में आते हैं।

करना मन, वाणी और काया से होता है।

कराना मन, वाणी, और काया से होता है।

अनुमोदन मन, वाणी और काया से होता है।

---

१. विरत इविरत री चौपई, २.२३-२७ :

जगन मझिम उतकष्टा श्रावक, तीनां री एकज पांतो रे।
इविरत छे सगलां री माठी, तिणमें म राखो भ्रांतो रे॥
कोइ श्रावक ना व्रत ले साधां पें, आयो जिण दिस जायो रे।
मार्ग मां दोय मित्री मिलिया, ते बोल्या जूदी-जूदी वायो रे॥
एक कहें व्रत चोखा पालें, ज्यूं कटें आठोइ कर्मों रे।
काल अनादि रे भमतें-भमतें, पायों जिणवर धर्मों रे॥
एक कहें तूं आगार सेवें, सचितादिक सर्व संभाली रे।
जतन घणां कीजें डीलां रा वले कूटंब तणी प्रतपाली रे॥
व्रत पालण री आग्या दीधी, ए तो धर्म रो मिंत्री मोटो रे।
अविरत आग्या दीधी तिण नें, ग्यांनी तो जांणें खोटो रे॥

इन्हें परिभाषा के शब्दों में करण-योग[१] कहा जाता है। आचार्य भिक्षु ने कहा—'जो लोग असंयम के सेवन में धर्म बतलाते हैं, वे करण-योग का विघटन करते हैं। एक व्यक्ति असंयम का आचरण स्वयं करे, दूसरा दूसरों से करवाए और तीसरा करने वालों का अनुमोदन करे' ये तीनों एक कोटि में हैं।[२]

मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—असंयमी, संयमासंयमी और संयमी। आचार्य भिक्षु के पास धर्म और अधर्म की कसौटी थी—संयम और असंयम। जो कार्य संयम की कसौटी पर खरा उतरे, वह धर्म और खरा न उतरे, वह अधर्म। संयम धर्म है और असंयम अधर्म। इस मान्यता में संभवत: मतभेद नहीं है। मतभेद इसमें है कि किस कार्य को संयम में गिना जाए और किसको असंयम में।

आचार्य भिक्षु के अनुसार जो संयमी नहीं हैं, उनके जीवन-निर्वाह के सारे उपक्रम असंयम में हैं, इसलिए धर्म नहीं है।[३]

कुछ लोग कहते थे—'असंयमी स्वयं खाए, वह पाप है और दूसरों को खिलाए, वह धर्म है।'

आचार्य भिक्षु ने कहा—'असंयमी स्वयं खाए, वह पाप और दूसरे असंयमी को खिलाए वह धर्म, यह कैसे?[४] असंयमी का खाना यदि असंयम में है तो असंयम का सेवन करना, कराना दोनों एक कोटि के कार्य हैं। इनमें से एक को पाप, एक को धर्म कैसे माना जाए?'

असंयमी कोई वस्तु अपने अधिकार में रखता है, वह पाप है तो उस वस्तु को दूसरे असंयमी के अधिकार में देने से धर्म कैसे होगा? यह दृष्टिकोण

---

१. विरत इविरत री चौपई, १.६ :
करण जोग विगटावें अग्यांनी, लाग रह्या मत झूठें रे।
न्याय करे समझावें तिण सूं, क्रोध करे लडवा उठें रे॥

२. वही, ५.११ :
इविरत सूं बंधे कर्म, तिणमें नहीं निश्चें धर्म।
तीनूं करण सारिखा ए, ते विरला पारिखा ए॥

३. वही, १६, दु. ७-८ :
तिणरों खांणो पीणों नें पेहरणों, वले उपधि उपभोग परिभोग।
ते सगलाइ राख्या ते इविरत में, त्यांनें भोगव्यां सावद्य जोग॥
भोगवें ते पेंहले करण पाप छें, भोगवावे ते दूजें करण जांण।
सरावें ते करण तीसरें, सारां रे पाप लागें छें आंण॥

४. वही, १.७
खायां पाप खवायां धर्म, ए अन्य तीर्थी री वायो रे।
विरत इविरत री खबर न कांई, भोलां ने दे भरमायो रे॥

विशुद्ध आध्यात्मिक होने के कारण लौकिक दृष्टि से मेल नही खाता है, फिर भी उन्होंने जो तर्क उपस्थित किया है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। कोई भी व्यक्ति संयम और असंयम की कसौटी से धर्म और अधर्म को कसेगा, उसके सामने वे ही निष्कर्ष आएंगे जो आचार्य भिक्षु के सामने आए थे।

खाने वाले और लेने वालों को पाप तथा खिलाने वाले और देने वाले को धर्म होता है, यह विचित्र कसौटी है।[१]

आचार्य भिक्षु ने कहा–'जिन-वाणी के अनुसार जिसे करना धर्म है, उसको कराना और उसका अनुमोदन करना भी धर्म है और जिसे करना अधर्म है, उसको कराना और उसका अनुमोदन करना भी अधर्म है।'[२]

वृक्ष को काटने में पाप है तो उसे काटने के लिए कुल्हाड़ी देने और उसका अनुमोदन करने में भी धर्म नहीं है।[३]

गांव जलाने में पाप है तो उसे गांव जलाने के लिए अग्नि देने और उसका अनुमोदन करने में भी धर्म नहीं है।[४]

युद्ध करने में पाप है तो युद्ध करने के लिए शस्त्र देने और उसका अनुमोदन करने में भी धर्म नहीं है।

कुछ लोगों ने कहा–जीव को मारने में पाप है, मरवाने और मारने वाले का अनुमोदन करने में पाप है, वैसे ही कोई किसी को मार रहा हो तो उसे देखने में

---

१. विरत इविरत री चौपई, ७.१६, २४
जब जीमण वाला नें पाप बतावें, हिंसा करण वाला नें कहें छें पापी।
जीमावण वाला नें धर्म कहें छें, आ सरधा भेषधार्‌यां थापी॥
ते देण वाला नें तो धर्म बतावें, लेवाल नें तो कहें पापज होवें।
तो धर्म करण नें मूढं अग्यांनी, सर्व सामग्री नें कांय डबोवें॥

२. वही, १२.३३ :
जीव खाधां खवायां भलो जांणीयां, तीनूंई करणां पाप हो।
आ सरधा परूपी छें आपरी, ते पिण दीधी आगन्यां उथाप हो॥

३. वही, १५.४८ :
रूंख बाढण नें साध कूहाडो दीधों, तिण कुहाडा सूं रूंख बाढें छें आंणों।
रूंख बाढें तिणनें साज दीयों छें, त्यां दोयां नें एकंत पापज जांणो॥

४. वही, १५.५०, ५३
गांम बालण नें साझ अगन रों दीधों, तिण अगन सूं गांम बालें छें आंणों।
गांम बालें तिणनें साझ देवें तिणनें, यां दोयां रो लेखों बरोबर जांणों॥
पाप करण रों साझ देसी तिणनें, एकंत पाप लागें छें आंणों।
पाप रो साझ दीयां नहीं धर्म नें मिश्र, समझो रे समझो थें मूंढ अयांणो॥

भी पाप है। आचार्य भिक्षु ने कहा—तीन बातें ठीक हैं, पर देखने वाले को पाप कहना अनुचित है।[१] यदि देखने मात्र से पाप लगे तो पाप से बचा ही नहीं जा सकता। मारने, मरवाने और मारने का अनुमोदन करने से आदमी बच सकता है, पर देखने से बचना उसके हाथ की बात नहीं है। जो सर्वज्ञ हैं, वे सबकुछ देखते हैं। यदि देखने मात्र से पाप लगे तो वे उससे कैसे बच पाएंगे? आचार्य भिक्षु ने जैन आगमों की इस सीमा का समर्थन किया कि करना, करवाना और अनुमोदन—ये तीन ही धर्म और अधर्म के साधन हैं, और नहीं।

5. धर्म और पुण्य

गेहूं के साथ भूसा होता है, पर भूसे के लिए गेहूं नहीं बोया जाता। धर्म के साथ पुण्य का बंधन होता है, पर पुण्य के लिए धर्म नहीं किया जाता। जो पुण्य की इच्छा करता है, उसके पाप का बंध होता है।[२]

धर्म आत्मा की मुक्ति का साधन है, पुण्य शुभ परमाणुओं का बंधन है। बंधन और मुक्ति एक नहीं हो सकते। धर्म और पुण्य भी एक नहीं हो सकते।

पाप लोहे की बेड़ी है और पुण्य सोने की। बेड़ी आखिर बेड़ी है, भले फिर वह लोहे की हो या सोने की। धर्म बेड़ी को तोड़ने वाला है। आत्मा में मन, वाणी और काया की जब तक चंचलता होती है, तब तक परमाणु उसके चिपकते रहते हैं। प्रवृत्ति धर्म की होती है तो पुण्य के परमाणु चिपकते हैं और प्रवृत्ति अधर्म की होती है तो पाप के परमाणु चिपकते हैं। आत्मा पर जो अणुओं का आवरण होता है, उसे हर कोई आदमी नहीं जान पाता। जिनकी दृष्टि विशुद्ध होती है, वे उसे प्रत्यक्ष देख लेते हैं। धर्म इसलिए किया जाना चाहिए कि आत्मा इन दोनों आवरणों से मुक्त हो।

जैन-परंपरा में एक मान्यता थी कि अमुक कार्यों में धर्म होता है और अमुक-अमुक कार्यों में धर्म नहीं होता, कोरा पुण्य होता है। आचार्य भिक्षु ने इसे मान्यता नहीं दी। उन्होंने कहा—'कोरा पुण्य नहीं होता। पुण्य का बंधन वहीं होता है, जहां धर्म की प्रवृत्ति होती है। धर्म मुक्ति का हेतु है, इसलिए उससे पुण्य का बंधन नहीं होता। मुक्ति और बंधन दोनों साथ-साथ चलें तो मुक्ति हो ही नहीं सकती। धर्म की पूर्णता प्राप्त नहीं होती, तब तक उसके साथ पुण्य

---

१. अणुकम्पा री चौपई, ४ दु. २

२. नव पदारथ, पुन पदारथ ३.५२

पुन तणी वंछा कीयां लागे छै एकंत पाप हो लाल।
तिण सूं दुःख पामें संसार में, वधतो जाये सोग संताप हो लाल।

का बंधन होता है और धर्म की पूर्णता प्राप्त होती तब पुण्य का बंधन भी रुक जाता है। बंधन रुकने के पश्चात् मुक्ति होती है।'

पुण्य की स्वतंत्र मान्यता के आधार पर जैनों में कई परंपराएं चल पड़ीं। कुछ लोग खिलाकर उपवास करवाते थे। उनका विश्वास था कि ये उपवास करेंगे, इसका लाभ मिलेगा। आचार्य भिक्षु ने इसका तीव्र प्रतिवाद किया। उन्होंने यह स्मरण कराया कि धर्म खरीदने-बेचने की वस्तु नहीं है। उसका विनिमय नहीं होता। दूसरे का किया हुआ धर्म और अधर्म अपना नहीं होता।[१] ऐसा विश्वास इतर धर्मों में भी रहा है। जैसे कुछ लोगों की मान्यता है कि धर्म और पुण्य खरीदने-बेचने की चीज है। ब्राह्मण को दक्षिणा दी, उसने यज्ञ और जाप किया और उसका फल दक्षिणा देनेवाले के हिसाब में जमा हो गया। रोम के पोप की ओर से क्षमा-पत्र बेचे जाते थे। खरीदने वाले समझते थे कि वे क्षमा-पत्र उन्हें परलोक में पाप-दंड से बचा देंगे।[२]

आचार्य भिक्षु ने इस विचार के विरुद्ध जो क्रांति की, वह उनकी एक बहुमूल्य देन है। इससे मनुष्य की अपनी पूर्ण स्वतंत्र सत्ता और अपने पुरुषार्थ में विश्वास उत्पन्न होता है।

6. प्रवृत्ति और निवृत्ति

जो रात को भटक जाए, उसे आशा होती है कि दिन में मार्ग मिल जाएगा, पर जो दुपहरी में ही भटक जाए, वह मार्ग मिलने की आशा कैसे रखे?[३]

प्रवृत्ति और निवृत्ति की चर्चा उतनी ही पुरानी है, जितना पुराना धर्म का उपदेश है। यथार्थवादी युग में प्रवृत्ति का पलड़ा भारी होता है और आत्मवादी युग में निवृत्ति का। प्रवृत्ति का अर्थ है चंचलता और निवृत्ति का अर्थ है स्थिरता, चंचलता का अभाव। मनुष्य का सारा प्रयत्न योग और वियोग के अंतराल में चलता है। वह प्रिय का योग चाहता है और अप्रिय का वियोग। चाह मन में उत्पन्न होती है। मन को इन्द्रियां प्रेरित करती हैं। वे पांच हैं– स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत। स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द इनके विषय हैं। इन्द्रियां

१. विरत इविरत री चौपई, १९.२७

पेंला रो लगायों तो पाप न लागें, आपरो लगायों पापज लागें जी।
सावद्य जोग दोयां रा जूआ-जूआ वरत्या, त्यांरो पाप लागो छें सागें जी॥

२. दर्शन संग्रह (डॉ. दीवानचन्द), पृ. ५९

३. विरत इविरत री चौपई, १.६२ :

राते भूला तो आसा राखें, दीयां सूझसी सूला रे।
कहो नें आसा राखें किण विध, दीयां दोपारां रा भूला रे॥

अपने-अपने विषय को जानती हैं और अपनी जानकारी मन तक पहुंचा देती हैं। मन के पास कल्पना-शक्ति है। वह इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त जानकारी के अनुसार ज्ञात पदार्थों में प्रियता और अप्रियता की कल्पना करता है, फिर वह इन्द्रियों को अपने प्रिय विषय की ओर प्रेरित करता है, अप्रिय विषय से विरत करता है, यह है इन्द्रिय और मन के विनिमय का क्रम। आध्यात्मिक जगत में इसी को प्रवृत्ति कहा जाता है। निवृत्ति का अर्थ है–इन्द्रिय और मन का संयम, राग द्वेष का नियंत्रण। निवृत्ति का अर्थ नहीं करना ही नहीं है। इन्द्रिय और मन पर नियंत्रण करने में भी उतना ही पुरुषार्थ आवश्यक होता है, जितना किसी दूसरी प्रवृत्ति करने में चाहिए। बल्कि कहना यह चाहिए कि निवृत्ति में प्रवृत्ति की अपेक्षा कहीं अधिक उत्साह और पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। निवृत्ति का अर्थ केवल निषेध या निठल्लापन नहीं है। कोरा निषेध हो ही नहीं सकता। आत्मा में प्रवृत्ति होती है, उसका अर्थ है सांसारिक निवृत्ति। आत्मा में निवृत्ति होती है, उसका अर्थ है सांसारिक प्रवृत्ति। प्रवृत्ति धार्मिक भी होती है, पर वह न कोरी प्रवृत्ति होती है और न कोरी निवृत्ति।

प्रवृत्ति और निवृत्ति : एक सापेक्ष दृष्टि

जहां अशुभ की निवृत्ति और शुभ की प्रवृत्ति हो, उसे धार्मिक प्रवृत्ति कहा जाता है। मोक्ष का अर्थ है–दु:ख की निवृत्ति, किंतु दु:ख की निवृत्ति ही मोक्ष नहीं है। कोरा अभाव शून्य या तुच्छ होता है। दु:ख की निवृत्ति का अर्थ है–अनंत सुख की प्राप्ति। मोक्ष में पौद्गलिक सुख-दु:ख का निवर्तन होता है, इसलिए कहा जाता है–मोक्ष का अर्थ है दु:ख की निवृत्ति। मोक्ष में आत्मिक सुख का सतत उदय रहता है, इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि मोक्ष का अर्थ है–सुख की प्रवृत्ति। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों सापेक्ष हैं। जिस पुरुषार्थ का प्रेरक सांसारिक उत्साह होता है और जहां संयम की निवृत्ति होती है, उसे हम प्रवृत्ति कहते हैं और जिस पुरुषार्थ का प्रेरक धार्मिक उत्साह होता है और जहां असंयम की प्रवृत्ति नहीं होती, उसे हम निवृत्ति कहते हैं, इस प्रकार प्रवृत्ति का प्रयोग सापेक्ष दृष्टि से किया जाता है।

कहा जाता है कि जीवन का लक्ष्य भावात्मक होना चाहिए, निषेधात्मक नहीं। इसमें जैन-दर्शन की असहमति नहीं है। भोगवादी जैसे जीवन का अंतिम उद्देश्य भोगात्मक सुखानुभूति मानते हैं, वैसा भावात्मक लक्ष्य नहीं होना चाहिए और आत्मवादी जैसे जीवन का अंतिम उद्देश्य अनंत सुख की प्राप्ति मानते हैं, वैसा भावात्मक लक्ष्य होना चाहिए।

आचार्य भिक्षु जैन दर्शन के भावात्मक लक्ष्य को आधार मानकर चले, इसलिए उन्होंने असंयम की निवृत्ति और संयम की प्रवृत्ति पर अधिक बल दिया, इसीलिए कुछ लोग कहते हैं कि उनका दृष्टिकोण निषेधात्मक है। उन्होंने 'मत करो' की भाषा में ही तत्त्व का प्रतिपादन किया है।

इस उक्ति में सचाई है भी और नहीं भी है। किसी एक का निषेध है, इसका अर्थ किसी एक का विधान भी है। एक धार्मिक व्यक्ति असंयम की प्रवृत्ति को अस्वीकार करता है, इसका अर्थ निषेध ही नहीं है, संयम की प्रवृत्ति का स्वीकार भी है। असंयम की भूमिका से देखा जाए तो वह निषेध है और संयम की भूमिका से देखने पर वह विधान है।

आचार्य विनोबा भावे ने निवृत्ति-धर्म पर एक टिप्पणी की है। एक भेंट का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है–

निवृत्ति धर्म

'हमें कुछ ऐसे भाई मिले, जो कहते हैं कि दया करना निवृत्ति-धर्म के खिलाफ है, आध्यात्मिकता के खिलाफ है। निवृत्ति-धर्म कहता है कि हर एक को अपना प्रारब्ध भोगना चाहिए। हम किसी बीमार की सेवा करने जाते हैं तो उसके प्रारब्ध में दखल देते हैं। मैं बीमार हुआ तो मान लो कि पिछले जन्म की या इस जन्म की कुछ गलती होगी। इस जन्म की गलती हो तो उसे सुधारूंगा।

पुराने जन्म की हो तो प्रारब्ध भोगूंगा। इस तरह मैं अपने लिए कह सकता हूं, लेकिन लोग दुःखी या बीमार पड़े हैं और मैं ज्ञानी होकर उनसे यह कहूं कि तुम्हारा प्रारब्ध क्षय हो रहा है, उसमें मैं सेवा करके दखल नहीं दूंगा, क्योंकि मैं निवृत्ति-प्रधान हूं तो क्या कहा जाएगा? अध्यात्मवादी सेवा को ही गलत मानते हैं। यह बात ठीक है कि सेवा में अहंकार हो तो वह सेवा अध्यात्म के खिलाफ होगी, लेकिन क्या यह जरूरी है कि सेवा में अहंकार हो ही? सेवा निष्काम भी हो सकती है। भगवद्गीता ने हमें निष्काम सेवा करना सिखाया है, परंतु लोगों ने अध्यात्मिक सेवा को यहां तक निवृत्ति-परायण बताया कि उनका सेवा या नीति से कोई संबंध नहीं रहा है।'[१]

'हम किसी बीमार की सेवा करने जाते हैं तो उसके प्रारब्ध में दखल देते हैं' यह मान्यता किसी भी जैन संप्रदाय की नहीं है। जैनों का कर्मवाद कारण-सामग्री को भी मान्यता देता है। सुख के अनुकूल कारण-सामग्री मिलने पर ही

१. विनोबा प्रवचन, २६ मई, १९५९

सुख का उदय हो सकता है। यही बात दु:ख के लिए है, हम किसी के सुख-दु:ख के निमित्त बन सकते हैं।

जैन धर्म में निवृत्ति का अर्थ

विनोबाजी ने जिस तत्त्व की आलोचना की है, वह या तो उनके सामने सही रूप में नही रखा गया या उन्होंने उसे अपनी दृष्टि से ही देखा है। इस चर्चा का मूल आचार्य भिक्षु के इस जीवन-प्रसंग में है–

एक व्यक्ति ने पूछा–भीखणजी! कोई बकरे को मार रहा हो, उससे बकरे को बचाया जाए तो क्या होगा?

आचार्य भिक्षु ने कहा–'मारने वाले को समझाकर हिंसा छुड़ाई जाए तो धर्म होगा। चर्चा को आगे बढ़ाते हुए कहा–'ये दो अंगुलियां हैं। एक को मारने वाला मान लो और एक को बकरा। इन दोनों में कौन डूबेगा-मरने वाला या मारने वाला? नरक में कौन जाएगा-मरने वाला या मारने वाला?

प्रश्नकर्ता ने उत्तर दिया–मारने वाला।

साधु जो पाप में डूब रहा हो, उसे बचाए या नहीं डूब रहा है उसे? मारने वाले को समझाए या मरने वाले को?

मारने वाले को समझाकर हिंसा छुड़ाए, वह धर्म है, मोक्ष का मार्ग है।

दूसरा उदाहरण देते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा–

एक साहूकार के दो पुत्र हैं। एक ऋण लेता है और दूसरा ऋण चुकाता है। पिता किसको निषेध करेगा? ऋण लेने वाले को या ऋण चुकाने वाले को?

साधु सब जीवों के पिता के समान हैं। मारने वाला अपने सिर ऋण करता है, मरने वाला ऋण चुकाता है। साधु मारने वाले को समझाएगा कि तू ऋण क्यों ले रहा है? इससे भारी होकर डूब जाएगा, अधोगति में चला जाएगा। इस प्रकार मारने या ऋण लेने वाले को समझाकर हिंसा छुड़ाना धर्म है।[१]

यह हृदय-परिवर्तन की मीमांसा है। आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण यह था कि मरने वाले को बचाने का यत्न किया जाए, यह मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है, किंतु मारने वाले को हिंसा के पाप से बचाने का यत्न किया जाए, इसमें धर्म की स्फुरणा है।

विनोबाजी ने कहा है–सेवा में अहंकार होगा तो वह सेवा अध्यात्म के खिलाफ होगी।

१. भिक्खु दृष्टान्त, १२८

कोई कहता है–सेवा में स्वार्थ हो तो सेवा अध्यात्म के खिलाफ होगी।

कोई कहता है–सेवा में असंयम हो तो वह सेवा अध्यात्म के खिलाफ होगी।

अध्यात्मवादी सेवा को गलत नहीं मानते हैं। वे उसे अनेक दृष्टिकोणों से देखते हैं और उसे अनेक भूमिकाओं में विभक्त करते हैं। डॉक्टर मनुष्य समाज की सेवा के लिए नए-नए प्रयोग करते हैं। महात्मा गांधी ने उनकी आलोचना की है। वे लिखते हैं–'अस्पताल तो पाप की जड़ है। उनके कारण मनुष्य अपने शरीर की तरफ से लापरवाह हो जाता है और अनीति बढ़ती है। अंग्रेज डॉक्टर तो सबसे गए बीते हैं। वे शरीर की झूठी सावधानी के लिए ही हर साल लाखों जीवों की जान लेते हैं। जीवित प्राणियों पर वे विभिन्न प्रयोग करते हैं। यह बात किसी धर्म में नहीं है।

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी धर्म यही कहते हैं कि मनुष्य के शरीर के लिए इतने जीवों की जान लेने की जरूरत नहीं है।[१]

युद्ध में लड़ने वाले सिपाहियों की सेवा को भी युद्ध को प्रोत्साहन देना माना है।[२]

आचार्य भिक्षु ने कहा–असंयमी की सेवा असंयम को और संयमी की सेवा संयम को प्रोत्साहन देती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट है कि सेवा न तो अध्यात्म के सर्वथा अनुकूल है और न सर्वथा प्रतिकूल। सामाजिक भूमिका में रहने वालों के लिए समाज-सेवा का निषेध नहीं हो सकता, भले फिर वह असंयम की सीमा में ही क्यों न हो। मुनि के लिए भी समाज-सेवा का सर्वथा विधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनकी भी अपनी कुछ सीमाएं हैं।

समाज और अध्यात्म की रेखाएं समानांतर होते हुए भी मिलती नहीं है। सामाजिक प्राणी के लिए असंयम की निवृत्ति की उपयोगिता है और वह भी एक सीमा तक, पर आध्यात्मिक प्राणी के लिए असंयम की निवृत्ति परम धर्म है और वह भी निस्सीम रूप में। प्रवृत्ति और निवृत्ति की भाषा और उनका महत्त्व सबके लिए एकरूप नहीं है।

दया शब्द दो भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। एक भावना सामाजिक है और दूसरी धार्मिक। समर्थ व्यक्ति असमर्थ व्यक्ति के कष्टों से द्रवित हो

१. हिन्द स्वराज्य, पृ. ९२

२. हिन्दी नवजीवन, २० सितम्बर, १९२८ का अंक

उठता है, यह दीन के प्रति उत्कृष्ट सहानुभूति है। इस भावना की अभिव्यक्ति दया शब्द से होती है। एक व्यक्ति समर्थ या असमर्थ सभी जीवों को कष्ट देने का प्रसंग आते ही द्रवित हो जाता है। यह एक आत्मा की सब आत्माओं के प्रति समता की अनुभूति है। इस भावना की अभिव्यक्ति भी दया शब्द से होती है, इसलिए यह कहना उचित है कि दया शब्द दो भावों का प्रतिनिधि है। द्रवित होने के बाद दो कार्य हैं—कष्ट न देना और कष्टों का निवारण करना। कष्ट न देना, यह सर्वसम्मत है और कष्टों का निवारण करना इसमें कई प्रश्न उपस्थित होते हैं, इसलिए आचार्य भिक्षु ने कहा—'सब दया-दया पुकारते हैं। दया धर्म सही है, पर मुक्ति उन्हीं को मिलेगी, जो उसे पहचान कर उसका पालन करेंगे।[१] दया के नाम के भूलावे में मत आओ। गहराई में पैठो, उसे परखो।'[२]

कष्ट-निवारण क्यों किया जाए? कैसे किया जाए? और किसका किया जाए? इसका एक उत्तर नहीं है।

समाज-धर्म की भूमिका से इनका उत्तर मिलता है—कष्टों का निवारण जीवों को सुखी बनाने के लिए किया जाए, जैसे—तैसे किया जाए और मनुष्यों का किया जाए और जहां मनुष्य-जाति के हित में बाधा न पड़े, वहां दूसरों का भी किया जाए। आत्मधर्म की भूमिका से इनका उत्तर मिलता है—कष्टों का निवारण आत्मा को पवित्र बनाने के लिए किया जाए, शुद्ध साधनों के द्वारा किया जाए और सबका किया जाए।

व्यास के शब्दों में अष्टादश पुराणों का सार यह है कि परोपकार से पुण्य होता है और परपीड़न से पाप। यह एक सामान्य सिद्धांत है कि दूसरों को पीड़ित नहीं करना चाहिए, यह संयमवाद है। आत्मधर्म की भूमिका में यह सर्वथा स्वीकार्य है, वैसे समाजधर्म की भूमिका में नहीं है। समाज के क्षेत्र में असंयम को भी स्थान प्राप्त है। दूसरों का उपकार करना चाहिए, यह समाजवाद है, इसलिए समाजधर्म की भूमिका में यह सर्वथा स्वीकार्य है, वैसे आत्मधर्म की भूमिका में नहीं है।

आत्मधर्म के क्षेत्र में असंयम को स्थान प्राप्त नहीं है। समाज के क्षेत्र में असंयम का सर्वथा परिहार नहीं हो सकता और धर्म के क्षेत्र में असंयम का अंश भी स्वीकार नहीं हो सकता। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर आचार्य भिक्षु ने दया और उपकार को दो भागों में विभक्त किया—'लौकिक दया

१. अणुकम्पा री चौपई : ८, दु. १ :

२. वही, १, दु. ४ :

और लोकोत्तर दया, लौकिक उपकार और लोकोत्तर उपकार, समाज धर्म और आध्यात्मिक धर्म।'

जिसमें संयम और असंयम का विचार प्रधान न हो, किंतु करुणा ही प्रधान हो, वह लौकिक दया है। जहां करुणा संयम से अनुप्राणित हो, वह लोकोत्तर दया है। अग्नि में जलते हुए को किसी ने बचाया, कुएं में गिरते हुए को किसी ने उबारा, वह लौकिक उपकार है।[१]

जन्म-मृत्यु की अग्नि में झुलसते हुए को संयमी बनाया या पाप के कुएं में गिरते हुए को उपदेश देकर किसी ने उबारा, वह लोकोत्तर उपकार है।[२] किसी दरिद्र को धन-धान्य से संपन्न कर सुखी बना देना लौकिक उपकार है।[३] एक आदमी तृष्णा की आग में झुलस रहा है, उसे उपदेश देकर शांत बना देना लोकोत्तर उपकार है।[४]

एक आदमी अपने माता-पिता की दिन-रात सेवा करता है, उन्हें मनचाहा भोजन कराता है, यह लौकिक उपकार है।[५] एक आदमी अपने माता-पिता को ज्ञान, श्रद्धा और चारित्र की प्राप्ति हो वैसा यत्न करता है, उन्हें धार्मिक सहयोग देता है, यह लोकोत्तर उपकार है।[६]

कहा जाता है–लौकिक और आध्यात्मिक का भेद डालकर जीवन को विभक्त करना अच्छा नहीं है। इससे लौकिक कर्तव्य और धर्म के बीच खाई हो जाती है। कुछ लोगों का कहना था कि लौकिक कर्तव्यों को धर्म से पृथक्

१. अणुकम्पा री चौपई : ८.२ :
कोइ द्रवे लाय सूं बलतों राखें, द्रव कूवो पडता नें झाल बचायों।
ओं तो उपगार कीयो इण भव रो, जो ववेक विकल त्यांनें खबर न कांयो॥
२. अणुकम्पा री चौपई, ८.३ :
घट में ग्यांन घाल नें पाप पचखावें, तिण पडतो राख्यो भव कूआ मांह्यों।
भावे लाय सूं बलता नें काढें रिषेश्वर, ते पिण गेंहलां भेद न पायो॥
३. वही, ११.४ :
४. वही, ११.१५ :
किणरें तिसणा लाय लागी घर भिंतर, ग्यांनादिक गुण बलें तिण मांय।
उपदेस देइ तिणरो लाय बुझावें, रूंम रूंम में साता दीधी वपराय॥
५. वही, ११.१८ :
मात पिता री सेवा करें दिन रात, वले मन मान्यां भोजन त्यांनें खवावें।
वले कावड कांधे लीयां फिरें त्यांरी, वले बेहूं टकां रो सिनांन करावें॥
६. वही, ११.१९ :
कोइ मात पिता नें रूडी रीतें, भिन भिन कर नें धर्म सुणावें।
ग्यांन दरसन चारित त्यांनें पमावें, कांम भोग शब्दादिक सर्व छोड़ावें॥

मानने पर उनके प्रति उपेक्षा का भाव बढ़ता है और दायित्व को निभाने में कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं।

आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण यह था कि इन्हें एक मानने से मोक्ष के सिद्धांत पर प्रहार होता है।

जिस कार्य से संसार चले, बंधन हो, उसी से यदि मुक्ति मिले तो फिर बंधन और मुक्ति को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है? बंधन और मुक्ति यदि एक हों तो उनकी सामग्री भी एक हो सकती है और यदि वे भिन्न हों तो उनकी सामग्री भी भिन्न होगी। राग-द्वेष और मोह से संसार का प्रवाह चलता है तो उससे मुक्ति कैसे प्राप्त होगी? वीतराग भाव से मुक्ति प्राप्त होती है तो उससे संसार कैसे चलेगा? दोनों भिन्न दिशाएं हैं। उन दोनों को एक बनाने का यत्न करने पर भी हम एक नहीं बना सकते। लौकिक दृष्टि से देखा जाए तो कर्तव्य का स्थान सर्वोपरि है।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए तो धर्म का स्थान सर्वोपरि है। दोनों को एक दूसरे की दृष्टि से देखा जाए तो उलझन बढ़ती है। दोनों को अपनी-अपनी दृष्टि से देखा जाए तो अपने-अपने स्थान पर दोनों का महत्त्व है। लौकिक दया के साथ अहिंसा की व्याप्ति नहीं है, इसलिए अहिंसा और दया भिन्न तत्त्व हैं। लोकोत्तर दया और अहिंसा की निश्चित व्याप्ति है। जहां दया है, वहां अहिंसा है और जहां अहिंसा है, वहां दया है। इस दृष्टि से अहिंसा और दया एक तत्त्व है।

7. दया

कुछ संप्रदाय के साधुओं ने कहा–'हम जीव बचाते हैं, भीखणजी नहीं बचाते।' आचार्य भिक्षु ने कहा–'जीव बचाने की बात रहने दो, उन्हें मारना तो छोड़ो।' आपने कहा–'एक पहरेदार था। उसने पहरा देना छोड़ दिया और चोरी करने लगा।' उसने गांव के लोगों से कहा–मैं पहरा देता हूं, इसलिए मुझे पैसा दो। लोग बोले–पहरा देना दूर रहा, चोरी करना ही छोड़ दो।[१]

प्राणिमात्र के प्रति जो संयम है, वह अहिंसा है। प्राणिमात्र के प्रति जो मैत्रीभाव है, उन्हें पीड़ित करने का प्रसंग आते ही हृदय में एक कंपन हो जाता है, वह दया है। दया के बिना अहिंसा नहीं हो सकती और अहिंसा के बिना दया नहीं हो सकती।

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, ६५

इन दोनों में अविनाभाव संबंध है। सर्व जीवों के प्राणातिपात से दूर रहना पहला महाव्रत है।[१] इसमें समूची दया समाई हुई है। किसी भी प्राणी को भयाकुल न करना, यह अभयदान है। यह भी दया या अहिंसा का ही दूसरा नाम है।[२]

स्वयं न मारना, दूसरों से न मरवाना और मारने वाले को अच्छा न समझना यह अभयदान है और यही दया है।[३] जिसे अभयदान की पहचान नहीं है, वह दया को नहीं पहचानता।[४]

8. दान

कुछ लोग आकर बोले–भीखणजी! आपका अभिमत ही ऐसा है, जिससे आपके श्रावक दान नहीं देते।

आचार्य भिक्षु ने कहा–एक शहर में चार बजाज दुकान करते थे। उनमें से तीन बजाज बारात में गए, पीछे एक बजाज रहा। कपड़े के ग्राहक बहुत आए। कहिए, इससे बजाज राजी होगा या नाराज?

वे बोले–'वह तो प्रसन्न ही होगा।'

आचार्य भिक्षु ने कहा–'तुम कहते हो, भीखणजी के श्रावक दान नहीं देते, तब जितने याचक हैं, वे सब तुम लोगों के पास ही आएंगे। धर्म और पुण्य का सारा का सारा लाभ तुम्हीं को प्राप्त होगा, यह तुम लोगों के लिए बहुत खुशी की बात है, फिर तुम किसलिए कोसने आए हो कि भीखणजी के श्रावक दान नहीं देते?'[५]

---

१. अणुकम्पा री चौपई, ९.८

आहिज दया छें महावरत पहलों, तिणमें दया दया सर्व आई जी।
ते पूरी दया तो साध जी पालें, बाकी दया रही नहीं कांई जी॥

२. वही, ९.४ :

त्रिविधे त्रिविधे छ काय जीवां नें, भय नहीं उपजावें तांमो जी।
ए अभयदांन कह्यो भगवंते, ए पिण दया रो नांमो जी॥

३. अणुकम्पा री चौपई, ६, दु. १-२

पोतें हणें हणावें नहीं, पर जीवां ना प्रांण।
हणें जिणनें भलो जांणें नहीं, ए नव कोटी पचखांण॥
ए अभय दांन दया कही, श्री जिण आगम मांय।
तो पिण द्वंध उठावीयों, जेंनी नांम धराय॥

४. वही, ६, दु. ३

अभय दांन न ओलख्यों, दया री खबर न कांय।
भोलों लोकां आगलें, कूडा चोज लगाय॥

५. भिक्खु दृष्टान्त, १४६

दान भारतीय साहित्य का सुपरिचित शब्द है। इसके पीछे अनुग्रह का मनोभाव रहा है। एक समर्थ व्यक्ति दूसरे असमर्थ व्यक्ति को दान देता है, इसका अर्थ है वह उस पर अनुग्रह करता है। दान की परंपरा में असंख्य परिवर्तन हुए हैं। प्रत्येक परिवर्तन के पीछे एक विशिष्ट मान्यता रही है। प्राचीन काल में राजाओं की ओर से दानशालाएं चलती थीं। दुर्भिक्ष आदि के समय विशेष व्यवस्था की जाती थी। पद-यात्रियों को भी आहार आदि का दान दिया जाता था। सार्वजनिक कार्यों के लिए दान देने की प्रथा संभवतः नहीं जैसी थी। उस समय दान समाज-व्यवस्था का एक प्रधान अंग था। उससे पूर्वकाल में जाते हैं तो दान जैसा कोई तत्त्व था ही नहीं। न कोई देने वाला था और न कोई लेने वाला। भगवान ऋषभनाथ ने दीक्षा से पूर्व दान देना चाहा, पर कोई लेने वाला नहीं मिला।

भगवान ऋषभनाथ श्रमण बने। एक वर्ष तक उन्हें कोई भिक्षा देने वाला नहीं मिला, इसके पश्चात् श्रेयांसकुमार ने उन्हें इक्षुरस का दान दिया।

साधुओं को दान देने का प्रवर्तन हुआ तब यह प्रश्न मोक्ष से जुड़ गया, धर्म का अंग बन गया। समाज में दीन-वर्ग की सृष्टि हुई तब दान करुणा से जुड़ गया। याचकों ने दान की गाथाएं गाईं। दान सर्वोपरि तत्त्व बन गया। इससे अकर्मण्यता बढ़ने लगी, तब दान के लिए पात्र, अपात्र की सीमाएं बनने लगीं। इससे दाताओं का गर्व बढ़ने लगा, तब दाता के स्वरूप की मीमांसा की जाने लगी।

मांगने वालों का लोभ बढ़ गया, तब देय की मीमांसा होने लगी। दान के कारणों का विशद विवेचन हुआ। भारतीय साहित्य के हजारों-लाखों पृष्ठ इन मीमांसाओं से भरे हैं। आचार्य भिक्षु ने इस अध्याय में कुछ पृष्ठ और जोड़ दिए। उन्होंने दान का मोक्ष और संसार की दृष्टि से विश्लेषण किया। उनका अभिमत है कि जो लोग समूचे दान को धर्म मानते हैं, वे धर्म की शैली को नहीं जान पाए हैं। वे आक और गाय के दूध को एक मान रहे हैं।[१] मोक्ष का मार्ग संयम है। असंयमी को दान दिया जाए और उसे मोक्ष का मार्ग बताया जाए, यह विरोध है। दान को धर्म बताए बिना लोग देते नहीं, इसलिए संभव है दान को धर्म बताया जाता है।[२]

---

१. विरत इविरत री चौपई, २.१४ :
समचें दांन में धर्म कहें तो, नांइ जिण धर्म सेली रे।
आक नें गाय रो दुध अग्यांनी, कर दीयो भेल सभेली रे॥

२. वही, २.१५ :
इविरत में दांन ले पेंलां रो, मोष रो मार्ग बतावें रे।
धर्म कह्यां विण लोक नहीं दे, जब कूर कपट चलावें रे॥

आचार्य भिक्षु की समूची दान-मीमांसा का सार इन शब्दों में है कि संयमी को दिया जाए, वह दान मोक्ष का मार्ग है और असंयमी को दिया जाए, वह दान संसार का मार्ग है। संयमी को दान देने से संसार घटता है और असंयमी को दान देने से संसार बढ़ता है।[१]

दाता वही होता है, जो संयमी या असंयमी सभी को दे।[२] वह पग-पग पर संयमी-असंयमी की परख करने नहीं बैठता। अपने व्यवहार में जिसे संयमी मानता है, उसे मोक्ष-मार्ग की बुद्धि से देता है और जिसे असंयमी मानता है, उसे संसार-मार्ग की बुद्धि से देता है। निश्चय-दृष्टि का निर्णय व्यवहार-दृष्टि से भिन्न भी हो सकता है। संभव है जिसे संयमी माना जाए, वह वास्तव में असंयमी हो और जिसे असंयमी माना जाए, वह वास्तव में संयमी हो। यह व्यक्तिगत बात है।

सिद्धांत की भाषा में यही कहा जा सकता है कि संयमी को दान देना मोक्ष का मार्ग है और असंयमी को दान देना संसार का मार्ग है। संयमी और असंयमी की परिभाषा अपनी-अपनी हो सकती है। आचार्य भिक्षु की भाषा यह है कि जो पूर्ण अहिंसक हो, वह संयमी है और जो मनसा, वाचा, कर्मणा, कृत, कारित, और अनुमति से अहिंसा का पालन न करे, वह असंयमी है।

असंयमी मोक्ष-दान का अधिकारी नहीं है। जिसके कुछ व्रत हों, वह संयमा-संयमी भी मोक्ष-दान का अधिकारी नहीं है। एक आदमी छह काय के जीवों को मारकर दूसरों को खिलाता है, यह हिंसा का मार्ग है।[३] जीवों को मारकर खिलाने में पुण्य बतलाते हैं, वे सिंह की भांति निर्भय होकर नाद नहीं करते। उन्हें पूछने पर मेमने की भांति कांपने लग जाते हैं।[४]

---

१. विरत इविरत री चौपई, १६.५७ :
सुपातर नें दीयां संसार घटें छें, कुपातर नें दीयां वधे संसार।
ए वीर वचन साचा कर जांणों, तिणमें संका नहीं छें लिगार रे॥

२. विरत इविरत री चौपई, १६.५० :
पातर कुपातर हर कोइ नें देवें तिणनें कहीजें दातार।
तिणमें पातर दानं मुगत रो पावडीयों, कुपातर सूं रूलें संसार रे॥

३. वही, १७.९ :
कोइ छ काय जीवां रो गटकों करावें, अथवा छ काय मारे नें खवावें।
ओ जीव हिंसा नों राहज खोटों, तिण में एकंत धर्म नें पुन बतावें॥

४. वही, १७.३६ :
जीव खवायां में पुन परूपें, त्यां सीह तणी परें कदे न गूंजें।
परगट कहितां भूंडा दीसें, त्यांनें प्रश्न पूछ्यां गाडर जिम धूजें॥

जो जीवों को मारकर खिलाने में पुण्य बतलाते हैं, उनकी जीभ तलवार की तरह चलती है।[१]

एक दादूपंथी संप्रदाय का साधु आचार्य भिक्षु का व्याख्यान सुनने आया। वह व्याख्यान सुन बहुत प्रसन्न हुआ। वह बहुत बार आने लगा। एक दिन उसने आचार्य भिक्षु से कहा–'आप अपने श्रावकों से कह दें कि वे मुझे रोटी खिलाएं।' भिक्षु बोले–'श्रावकों को कहकर तुम्हें रोटी खिलाएं, चाहे हम अपनी रोटी तुम्हें दें, इसमें क्या अंतर है?' तब उसने कहा–'तो आप दान का निषेध करते हैं?' आचार्य भिक्षु ने कहा–'देने वालों को मनाही करो, चाहे किसी से छीन लो, इसमें क्या अंतर है?'[२]

लोग कहते हैं–आचार्य भिक्षु ने दान का निषेध किया है। आचार्य भिक्षु का अभिमत है कि निषेध करने में और छीनने में कोई अंतर नहीं है। उनकी वाणी है–दाता दे रहा हो, लेने वाला ले रहा हो। उस समय साधु उसे रोके तो लेने वाले के अंतराय आती है, इसलिए साधु वैसा नहीं कर सकता। साधु वर्तमान में असंयमी-दान की न तो प्रशंसा करे और न उसका निषेध करे, किंतु मौन रहे। धर्म-चर्चा के प्रसंग में दान के यथार्थ स्वरूप का विश्लेषण करे।[३]

इस पर भी कुछ लोगों ने कहा–दान को धर्म न मानने का अर्थ ही उसका निषेध है। आचार्य भिक्षु ने इसका समाधान किया कि दान देने वाले को कोई

---

१. विरत इविरत री चौपई, १७.२६ :
जीव खवायां में पुन परूपें, त्यां दुष्टयां नें कहिजें निश्चें अनारज।
त्यांरी जीभ बहें तरवार सूं तीखी, त्यां विकलां रा किण विध सीझसी कारज॥

२. भिक्खु दृष्टान्त, २४५

३. विरत इविरत री चौपई, ३.१७-२१ :
दातार दांन देवें तिण कालें, लेवाल लेवें धर पीतो रे।
जब साध कहे तूं मत दें इणनें, नषेधणों नहीं इण रीतो रे॥
जो दांन देता नें साध नषेदें तो, लेवाल रे पडें अंतरायो रे।
अंतराय दीयां फल कडवा लागें, तिणसूं नषेध न करें इण न्यायो रे॥
अंतराय सूं डरतो साधु न बोलें, ओर परमारथ मत जांणो रे।
ते पिण मूंन छें वरतमांन कालें, बुधवंत कीजों पिछांणो रे॥
उपदेश देवें साध तिण कालें, दूध पांणी ज्यूं करे नीवेडो रे।
विनां बतायां च्यार तीरथ में, किण विध मिटें अंधेरो रे॥
दोनूं भाषा साधु नहीं बोलें, पुन छें अथवा पुन नांहीं रे।
ते वरज्यों वरतमांन काल आसरी, थें सोच देखों मन मांही रे॥

कहे कि तू मत दे, वह दान का निषेध करने वाला है, किंतु दान जिस कोटि का हो उसी कोटि का बतलाया जाए, वह निषेध नहीं है, वह ज्ञान की निर्मलता है। भगवान ने असंयमी को दान देने में धर्म नहीं कहा, इसका अर्थ यह नहीं कि भगवान ने दान का निषेध किया है। इसका अर्थ इतना ही है कि जिसका जो स्वरूप था, वही बतला दिया।

किसी व्यक्ति ने साधु से कहा–तुम मेरे घर भिक्षा लेने मत आना। दूसरे व्यक्ति ने साधु को गालियां दी। जिसने निषेध किया, उसके घर साधु भिक्षा लेने नहीं जाता है। जिसने गालियां दी, उसके घर भिक्षा लेने जाता है। कारण यह है कि निषेध करना और कठोर वचन बोलना एक भाषा में नहीं समाते। इसी प्रकार दान देने का निषेध करना और दान को अधर्म बतलाना भिन्न-भिन्न भाषाएं हैं। इनका एक ही भाषा में समावेश नहीं होता।[१]

---

१. विरत इविरत री चौपई, ३.३९-४३ :

दांन देतां कहे तूं मत दें इण नें, तिण पाल्यों निषेद्यों दांनो रे।
पाप हुंतो नें पाप बतायों, तिणरो छें निरमल ग्यांनो रे॥
असंजती नें दांन दीयां में, कहि दीयों भगवंत पापो रे।
त्यां दांन नें वरज्यों निषेद्यों नांहीं, हुंती जिसी कीधी थापो रे॥
किण ही साधु ने कह्यों आज पछें तूं, म्हारें घर कदें मत आयो रे।
किणही एक करडा वचनज बोल्यो, हिवें साधु किसें घर जायों रे॥
साधां नें वरज्यों तिण घर में न पेसें, करडा कह्या तिण घर मांहें जावें रे।
निषेद्यों नें करडो बोल्यां ते, दोनूं एकण भाषा में न समावे रे॥
ज्यूं कोइ दांन देतां वरज राखें, कोइ दीधां में पाप बतावें रे।
ए दोनूंई भाषा जुदी-जुदी छें, ते पिण एकण भाषा में न समावें रे॥

5. क्षीर-नीर

1. सम्यग् दृष्टिकोण

जीभ की दवा आंख में डालने से और आंख की दवा जीभ में लगाने से आंख फूट जाती है और जीभ फट जाती है, दोनों इन्द्रियां नष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार जो अधर्म के कार्य का धर्म में और धर्म के कार्य का अधर्म में समावेश करता है, वह दोनों प्रकार से अपने आपको बांध लेता है।[१]

दया, दान और परोपकार—ये तीन तत्त्व सामाजिक जीवन के आधार-स्तंभ रहे हैं। धर्म की आराधना में भी इनका स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। समाज की व्यवस्था बदलती रहती है। जिस समाज में उच्चता और नीचता निसर्ग-सिद्ध मानी जाती थी, उसमें दया, दान और परोपकार को विकसित होने का अवसर मिला। आज समाज की व्यवस्था बदल चुकी है। इसमें समान अधिकार का सिद्धांत विकास पा रहा है। बड़ों और छोटों के वर्ग-भेद को इसमें स्थान नहीं है। जब बड़ों और छोटों में भेद मिटने लगता है, तब दया, दान और परोपकार सिमटने लग जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने जब दया-दान का विश्लेषण किया, उस समय की समाज-व्यवस्था में उन्हें बहुत महत्त्व दिया जाता था। आज की व्यवस्था में 'समान अधिकार' देने का जो महत्त्व है, वह दया दिखाने का नहीं है। जो महत्त्व सहयोग का है, वह दान और परोपकार का नहीं है। समाज-व्यवस्था परिवर्तनशील है, इसलिए परिवर्तन भी स्वाभाविक है। एक व्यवस्था में उसके अनुरूप तत्त्व विकसित होते हैं और दूसरी व्यवस्था में बदल जाते हैं। धर्म अपरिवर्तनशील है। उसमें दया, दान और परोपकार की मान्यता व्यवस्था से उत्पन्न नहीं है। वह संयम से जुड़ी हुई है। संयम का विकास हो वहीं दया

---

१. विरत इविरत री चौपई, ४.४-५ :

जीभ रो ओषद आंख्यां में घाल्यों, आंख्यां रो ओषद जीभ में घाल्यो रे।
तिण री आंखई फूटी नें जीभइ फाटी, दोनूंइ इंद्री खोय चाल्यो रे॥
ज्यूं अधर्म रा कांमा धर्म मांहे घाल्या, धर्म रा कांमा अधर्म में घाल्या रे।
दोनूंई विध कर्म बांधे अज्ञानी, दुरगत मांहे चाल्या रे॥

हो सकती है, वहीं दान और परोपकार। जो वर्तमान के असंयम को सहारा दे, वहां न दया है, न दान और न परोपकार। आचार्य भिक्षु ने कहा–'यह लोकोत्तर भाषा है। लौकिक भाषा इससे भिन्न है और बहुत भिन्न है। उसके पास मानदंड है–भावों का आवेग या मानसिक कंपन। लोकोत्तर भाषा संयम के मानदंड से मापकर बोलती है।'

सेवाधर्म एक समीक्षा

आचार्य भिक्षु के इस अभिमत के स्पष्टीकरण के बाद जो प्रश्न उपस्थित हुए, उनमें सर्वाधिक प्रभावशाली प्रश्न सेवा का है। नि:स्वार्थ भाव से सेवा करना क्या धर्म नहीं है? क्या हृदय की सहज स्फूर्त करुणा धर्म नहीं है? इसे अधर्म कहना भी तो बहुत बड़े साहस की बात है। जिस समाज में रहना और उसी की सेवा को धर्म न मानना बहुत ही विचित्र बात है। आपने समाचार-पत्रों में बहुत बार यह शीर्षक पढ़ा होगा–'यह सच है, आप माने या न माने।' बहुत सारी बातें ऐसी होती हैं, जिन पर सहसा विश्वास नहीं होता, पर वास्तव में वे सच होती हैं और कुछ बातें ऐसी होती हैं, जो वस्तुतः सच नहीं होतीं, परंतु उन पर सहसा विश्वास हो जाता है। समाज सेवा में धर्म नहीं, यह सुनते ही आदमी चौंक उठता है। किसी भी वस्तु के स्थूल दर्शन के साथ सचाई का लगाव इतना नहीं होता, जितना कि संस्कारों का होता है।

जो लोग सेवा मात्र को धर्म मानते थे, उनको लक्षित कर महात्मा गांधी ने कहा–'जो मनुष्य बंदूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है, दोनों में अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद दिखाई नहीं पड़ता। जो आदमी डाकुओं की टोली में उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता हो तब उसकी चौकीदारी करने, जब वह घायल हो तो उसकी सेवा करने का काम करता है, वह उस डकैती के लिए उतना ही जिम्मेदार है, जितना कि वह खुद डाकू। इस दृष्टि से जो मनुष्य युद्ध में घायलों की सेवा करता है, वह युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता।'[१]

'अहिंसा की दृष्टि से शस्त्र धारण करने वालों में और नि:शस्त्र रहकर घायलों की सेवा करने वालों में कोई फर्क नहीं देखता हूं। दोनों ही लड़ाई में शामिल होते हैं और उसी का काम करते हैं, दोनों ही लड़ाई के दोष के दोषी हैं।'[२]

---

१. आत्मकथा, भाग ४

२. हिन्दी नवजीवन, २० सितम्बर, १९२८

गांधीजी ने युद्ध के संबंध में जो विचार व्यक्त किए, वे ही विचार आचार्य भिक्षु ने जीवन-युद्ध के बारे में व्यक्त किए। सामाजिक क्रांति की दृष्टि से जहां मनुष्यों को दूसरे मनुष्यों को मारने की खुली छूट होती है, वह युद्ध है। मोक्ष की दृष्टि से जहां एक जीव में दूसरे जीव को मारने की भावना या वृत्ति होती है, वह युद्ध है अर्थात् जीवन ही युद्ध है। युद्ध में लगे जीवों की सहायता करने वाला युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता—यह महात्मा गांधी की वाणी है। आचार्य भिक्षु की वाणी है—'असंयममय जीवनयुद्ध में संलग्न जीवों की सहायता करने वाला असंयममय जीवन-युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता। पहली बात सूक्ष्म है और दूसरी सूक्ष्मतर है, इसलिए इन पर सहसा विश्वास नहीं होता, पर इनकी सचाई में संदेह नहीं किया जा सकता।

सामाजिक और आध्यात्मिक कार्यों का मिश्रण नहीं

आचार्य भिक्षु ने कहा—कोई व्यापारी घी और तंबाकू दोनों का व्यापार करता था। एक दिन वह किसी कार्यवश दूसरे गांव गया। उसका पुत्र दुकान में बैठा। उसने देखा कि एक बर्तन में घी पड़ा है और दूसरे में तंबाकू। दोनों आधे-आधे थे। उसने सोचा— पिताजी कितने कम समझदार हैं, बिना मतलब दो पात्र रोक रखे हैं। उसने घी का पात्र उठाया और तंबाकू में उंडेल दिया। उन्हें मिलाकर राब-सी बना ली। ग्राहक आया तंबाकू लेने। उसने वह राब दी। ग्राहक बिना लिए लौट गया। दूसरा ग्राहक आया घी लेने। वही राब उसके सामने आई। वह भी खाली लौट गया। जितने भी ग्राहक आए, वे सारे के सारे रीते हाथ लौट गए। वह पात्र खाली न हो तब तक दूसरा पात्र निकालने की पिताजी मनाही कर गए थे, उसे समूचे दिन इस समस्या का सामना करना पड़ा।[1]

उस व्यक्ति को भी इसी प्रकार की कठिनाई का सामना करना पड़ता है, जो आध्यात्मिक और लौकिक कार्यों का मिश्रण करता है। आचार्य भिक्षु के अभिमत में 'मिश्रण' अनुचित है।

इसके विरोधी समाज-सेवियों के अभिमत में सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक पहलुओं को अलग-अलग मानना अनुचित है। इन दिनों हम लोगों में जीवन के टुकड़े करने की आदत पड़ गई है। सामाजिक पहलू अलग, नैतिक पहलू अलग, आध्यात्मिक पहलू अलग—इस तरह अलग-अलग पहलू

---

१. विरत इविरत री चौपई, ४.१ः

जिम कोइ घ्रत तंबाखूं विणजें, पिण वासण विगत न पाडें रे।
घ्रत लेई तंबाखू में घालें, ते दोनूंई वसत विगाडें रे॥

बनाए गए हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि सामाजिक क्षेत्र में काम करने वाले नीति-विचार के बारे में सोचते नहीं, नीति का काम करने वाले समाज के मसले हाथ में नहीं लेते और अध्यात्मवादी दोनों तरफ ही ध्यान नहीं देते। इस तरह टुकड़े करके हमने जीवन को छिन्न-विच्छिन्न कर दिया है।[१]

जीवन विभक्त है या अविभक्त?

ये दोनों विचार परस्पर-विरोधी हैं। एक की दिशा है कि सामाजिक और आध्यात्मिक कार्यों का मिश्रण मत करो, दूसरे की दिशा है कि इन्हें बांटकर जीवन के टुकड़े मत करो। इन दोनों दिशाओं में से प्रश्न उठते हैं– क्या जीवन विभक्त ही है? क्या जीवन अविभक्त ही है? एकांत की भाषा में इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता और यदि दिया जाए तो वह सच नहीं होगा। इसका यथार्थ उत्तर होगा कि वह विभक्त भी है और अविभक्त भी। वह विभक्त इसलिए है कि सारी प्रवृत्तियां एक ही जीवन में होती हैं। विभाजन प्रवृत्तियों का होता है, उनके आधार का नहीं।

एकता आधार में होती है, उनकी प्रवृत्तियों में नहीं। दोनों के समन्वय की भाषा यह होगी कि आधार होने के नाते जीवन एक है, अविभक्त है और उसमें अनेक कार्य होते हैं, इस दृष्टि से वह अनेक है, विभक्त है। भगवान महावीर ने तीन पक्ष बतलाए-अधर्म-पक्ष, धर्म-पक्ष और मिश्र-पक्ष।[२] हिंसा और परिग्रह से जो किसी प्रकार निवृत्त नहीं हैं, वे अधर्म-पक्ष में आते हैं, उनसे जो सर्वथा निवृत्त हैं, वे धर्म-पक्ष में हैं और जो लोग किसी सीमा तक उनसे निवृत्त भी हैं और शेष सीमा में निवृत्त नहीं भी हैं, वे मिश्र-पक्ष में हैं। मिश्र-पक्ष में अहिंसा और हिंसा दोनों हैं।

आवश्यक हिंसा का जितना संवरण किया है, वह जीवन का अहिंसा-पक्ष है और जीवन में आवश्यक हिंसा का जितना प्रयोग है, वह उसका हिंसा-पक्ष है। ये दोनों जीवन में मिश्रित हैं, क्योंकि इनका आधार एक ही जीवन है, पर ये दोनों मिश्रित नहीं हैं, क्योंकि इनका स्वरूप सर्वथा भिन्न है।

जीवन में सारी प्रवृत्तियां अहिंसक ही होती हैं, ऐसा कौन कहेगा? और सारी प्रवृत्तियां हिंसक ही होती हैं, ऐसा भी कौन कहेगा? अहिंसक और हिंसक दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां होती हैं, उन्हें एक कोटि की कौन कहेगा? आचार्य भिक्षु ने जीवन-विभाजन की जो रेखा खींची, वह यही है। व्यापारी व्यापार

१. विनोबा प्रवचन, पृ. ४४०

२. सूत्रकृतांग, २.१

करते समय आध्यात्मिक भावना को भूल जाए, चाहे जितना क्रूर व्यवहार करे, धर्म-स्थान में वह धार्मिक और कर्म-स्थान में निर्दय हो, यह आशय उस विभाजन की रेखा का नहीं है।[१] उसका आशय है–व्यापार और दया-भाव एक नहीं हैं। दया-भाव धर्म है और व्यापार सांसारिक कर्म। दोनों को एक मानने का अर्थ होता है– धर्म और सांसारिक कर्म का मिश्रण।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–ये चार वर्ग हैं। इनमें दो साध्य हैं और दो साधन। मोक्ष साध्य है, धर्म उसका साधन। काम साध्य है, अर्थ उसका साधन। आर्थिक विकास और काम का आसेवन जीवन का एक पहलू है और दूसरा पहलू है–धार्मिक विकास और मुक्ति की उपलब्धि। ये चारों एक ही जीवन में होते हैं, पर ये सब स्वरूप की दृष्टि से एक नहीं हैं। आचार्य भिक्षु ने जीवन के टुकड़े नहीं किए, उन्होंने जीवन की प्रवृत्तियों के मिश्रण से होने वाली क्षति से लोगों को सावधान किया। उनकी वाणी है–'सावद्य दान' संसार संवर्धन का हेतु है, और 'निरवद्य दान' संसार-मुक्ति का हेतु है। संसार और मोक्ष के मार्ग भिन्न हैं, वे समानांतर रेखा की तरह एक साथ रहते हुए भी कहीं नहीं मिलते।[२]

लौकिक और लोकोत्तर उपकार एक नहीं

उनकी वाणी है–जो संसारिक उपकार करता है, उसके संसार बढ़ता है और जो मोक्ष के अनुकूल उपकार करता है, उसके मोक्ष निकट होता है।[३]

---

१. विनोबा प्रवचन, पृ. ४४९ (मंगलवार, २६ मई, १९५९)

व्यापारी इधर भगवान की भक्ति करता है, पूजा-पाठ करता है और उधर व्यवहार में झूठ चलता है, इस तरह वह तीर्थ-यात्रा, ध्यान, जप-जाप आदि करेगा, लेकिन सत्य व्यापार के खिलाफ है, ऐसा अवश्य कहेगा। व्यापार अलग और सत्य, प्रेम, दया अलग। व्यापारी दुखियों के वास्ते दान देगा, लेकिन व्यापार में दया नहीं रखेगा। यह नहीं सोचेगा कि व्यापार में भी दया पड़ी है। हम गलत ढंग से व्यापार करते हैं, तो समाज को दुःख पहुंचता है। इस तरह हमने व्यवहार को नीति से अलग रखा और नीति को अध्यात्म से अलग रखा।

२. विरत इविरत री चौपई, ३.३

ते सावद्य दांन संसार नां कारण, तिण में निरवद रो नहीं भेलो रे।
संसार नें मुगत रा मारग न्यारा, ते कठें न खावें मेलो रे॥

३. अणुकम्पा री चौपई, ११.३

संसार तणों उपगार करें छें, तिणरें निश्चेंइ संसार वधतो जांणों।
मोष तणो उपगार करें छें, तिणरे निश्चेंइ नेंडी दीसे निरवांणो॥

कोई गृहस्थ किसी गरीब को धन देकर सुखी बनाता है, यह सांसारिक उपकार है। वीतराग उसकी प्रशंसा नहीं करते।[१]

उनकी वाणी है—एक लौकिक दया है। उसके अनेक प्रकार हैं।[२] एक कुआं जल से भरा है, कोई उसमें गिर रहा था, उसे बचा लिया। कहीं आग लगी, कोई उसमें जल रहा था, उसे बचा लिया। यह दया है, उपकार है, पर है सांसारिक।

एक व्यक्ति पाप का आचरण कर रहा हो, उसे कोई समझाए, उसका हृदय बदल दे, वह जन्म-मरण के कुएं में गिरने से बचता है। यह दया है, उपकार है, पर है आध्यात्मिक।[३]

सामाजिक प्राणी समाज में रहता है। समाजरूपी धमनियां उसमें रक्त का संचार करती हैं, इसलिए वह सांसारिक उपकार करता है।

आत्मवादी का सर्वोपरि ध्येय मोक्ष होता है। उसकी साधना करना व्यक्ति का सहज धर्म है, इसलिए वह आध्यात्मिक उपकार करता है। जो मिथ्यादृष्टि होता है, वह इन दोनों को एक मानता है और सम्यक् दृष्टि इन्हें भिन्न-भिन्न मानता है।

आम और धतूरे के फल एक सरीखे नहीं होते। किसी के बाग में वे दोनों प्रकार के वृक्ष हों, वह आम की इच्छा से धतूरे को सींचे तो उसका परिणाम क्या होगा?

आम का वृक्ष सूखेगा और धतूरे का पौधा फलेगा। ठीक उसी प्रकार गृहस्थ जीवन में व्रतरूपी आम का वृक्ष और अव्रत रूपी धतूरे का पौधा होता

---

१. अणुकम्पा री चौपई, ११.४-५
कोइ दलदरी जीव नें धनवंत कर दें, नव जात रों परिग्रहो देइ भर पूर।
वले विविध प्रकारें साता उपजावें, उणरो जाबक दलदर कर दें दूर॥
छ काय रा सस्र जीव इविरति, त्यांरी साता पूछी नें साता उपजावें।
त्यांरी करें वीयावच विवध प्रकारें, तिणनें तीर्थंकर देव तों नहीं सरावें॥

२. अणुकम्पा री चौपई, ८ दु. ५
एक नांम दया लोकीक री, तिणरा भेद अनेक।
तिणमें भेषधारी भूला घणा, ते सुणजों आंण ववेक॥

३. वही ८ दु.२-३
आ दया तो पहिलो व्रत छें, साध श्रावक नों धर्म।
पाप रुकें तिण सूं आवता, नवा न लागें कर्म॥
छ काय हणे हणावें नहीं, हणीयां भलो न जांणे ताय।
मन वचन काया करी, आ दया कही जिणराय॥

है। जो व्यक्ति व्रतों की दृष्टि से अव्रत को सींचेगा, उसे आम की जगह धतूरे का फल मिलेगा।[१]

अमरीकी वायु सेना के चीफ ऑफ स्टाफ जनरल थामस ह्वाइट सीनेट वैदेशिक संबंध समिति की एक बैठक में 6 मई, 1959 को कोई गवाही दे रहे थे, उसके कुछ प्रसंग इस प्रकार हैं–

सीनेटर गोरे : मैं पाकिस्तान को इतनी ज्यादा बड़ी रकम सैनिक सहायता के रूप में देने का समर्थन करना कठिन पाता हूं।

श्री मैक एल. राय : यह रक्षा-व्यवस्था निःसंदेह भारत के विरुद्ध नहीं, बल्कि उसे रूस और चीन के विरुद्ध दी गई है।

सीनेटर गोरे : अच्छा, आपका यह उद्देश्य हो सकता है, किंतु हमारा जो अफसर उस कार्यक्रम का इंचार्ज है, वह कहता है कि पाकिस्तानी सैनिक अस्त्र-शस्त्र की सहायता भारत के विरुद्ध चाहते हैं।

श्री मैक एल. राय : हम उनसे सहमत नहीं।

सीनेटर : फिर भी आप उन्हें यह सहायता देते हैं और इसका उपयोग तो वे ही करेंगे, आप नहीं। दूसरे शब्दों में हम उन्हें सहायता एक उद्देश्य से देते हैं और वे उसे लेते हैं दूसरे उद्देश्य से।

जनरल ह्वाइट : मैं नहीं समझता कि ऐसा कहना न्याय-संगत है। निःसंदेह पाकिस्तानियों के खयाल भारतीयों की तरफ से बिगड़े हुए हैं, किंतु रूस के विरुद्ध भी उनके ऐसे ही भाव हैं।

---

१. विरत इविरत री चौपई, ५,५-११ः

हिवें सुणजो चतुर सुजांन, श्रावक रतनां री खाणं।
व्रतां कर जांणजो ए, उलटी मत तांणजो ए॥
केइ रूंख बाग में होय, आंब धतूरा दोय।
फल नहीं सारिखा ए, करजो पारिखा ए॥
आंबा सूं लिवलाय, सींचे धतूरो आय।
आसा मन अति घणी ए, अंब लेवा तणी ए॥
पिण आंब गयो कुमलाय, धतूरो रह्यो डहिडाय।
आय नें जोवें जरें ए नेंणा नीर झरें ए॥
इण दिष्टंते जांण, श्रावक व्रत अंब समाण।
इविरत अलगी रही ए, धतूरा सम कही ए॥
सेवारे इविरत कोय, व्रतां साह्मो जोय।
ते भूला भर्म में ए, हिंसा धर्म में ए॥
इविरत सूं बंधे कर्म, तिणमें नहीं निश्चें धर्म।
तीनूं करण सारिखां ए, ते विरला पारिखा ए॥

सीनेटर चर्च : हम पाकिस्तानी को रूसी आक्रमण के विरुद्ध सहायता दे रहे हैं, किंतु पाकिस्तानी भावना है कि खतरा मुख्यत: हिन्दुस्तान की ओर से है। मैं बहुत गंभीरता से पूछता हूं कि क्या एक मित्र देश को, दूसरे के विरुद्ध शस्त्र-सज्जित करने में अमरीकी रुपये खर्च करना उचित है।[१]

यह संवाद आचार्य भिक्षु के उस उदाहरण की याद दिलाता है, जिसका प्रयोग उन्होंने असंयमपूर्ण सहयोग की स्थिति को समझाने के लिए किया था।

एक राजा ने दस चोरों को मारने का आदेश दिया। एक दयालु सेठ ने राजा से निवेदन किया कि आप चोरों को प्राणदान दें तो मैं प्रत्येक चोर के लिए पांच सौ, पांच सौ रुपये दे दूं। राजा ने कहा–ये चोर बहुत दुष्ट हैं, छोड़ने योग्य नहीं हैं। सेठ ने कहा– सबको नहीं तो कुछेक को प्राणदान दें। सेठ का आग्रह देखकर राजा ने पांच सौ रुपये लेकर एक चोर को छोड़ा। नगर के लोग सेठ की प्रशंसा करने लगे। उसके परोपकार की सराहना करने लगे। चोर भी बहुत प्रसन्न हुआ। चोर अपने गांव गया। नौ चोरों के घर वालों को सारे समाचार सुनाए। वे बहुत कुपित हुए। वे उस चोर को साथ लेकर नगर में आए। दरवाजे पर चिट्ठी चिपका दी। उसमें निन्यानवें नागरिकों को मारकर नौ का बदला लेने की बात लिखी हुई थी और चोर को बचाने वाले साहूकार को छूट दी गई थी। अब नगर में चोरों का आतंक फैला। हत्याओं पर हत्याएं होने लगीं। किसी का बेटा मारा गया, किसी का बाप, किसी की पत्नी। नगर में कोलाहल मचा। लोग उस साहूकार की निंदा करने लगे, उसे कोसने लगे-सेठ के पास धन अधिक था तो उसे कुएं में क्यों नहीं डाल दिया? चोर की सहायता करके, हमारे प्रियजनों की हत्याएं क्यों करवाई? उस साहूकार की दशा दयनीय हो गई। उसे अपने बचाव के लिए नगर छोड़ दूसरी जगह जाना पड़ा।[२]

सेठ ने चोर को प्राणदान दिया और अमरीका पाकिस्तान को सुरक्षा-साधन दे रहा है। अमरीका द्वारा रूस और चीन के विरुद्ध पाकिस्तान को सैनिक सहायता दी जा रही है। सेठ ने उन निन्यानवें व्यक्तियों के विरुद्ध, जो चोरों द्वारा मारे गए, उस चोर की सहायता की। असंयमी प्राणी कभी भी किसी भी प्राणी को मार सकता है, उसे सहायता देना सब जीवों के विरुद्ध है। इसी दृष्टि से आचार्य भिक्षु ने कहा– मैं असयंमी जीवों को सांसारिक सहयोग देने का समर्थन करने में अपने को असमर्थ पाता हूं। यह तर्क हो सकता है कि

१. हिन्दुस्तान, २३ जून १९५९

२. भिक्खु दृष्टान्त, १४०

सेठ ने निन्यानवें के विरुद्ध चोर की सहायता नहीं की, केवल चोर को जीवित रखने के लिए प्रयत्न किया। इसी तरह का अंश इस संवाद में मिलता है कि अमरीका भारत के विरुद्ध पाकिस्तान को सहयोग नहीं दे रहा है। चोर निन्यानवें व्यक्तियों की हत्या कर सकता है, पाकिस्तान उस सैनिक सहायता का प्रयोग भारत के विरुद्ध भी कर सकता है।

जिस प्रकार इन सहयोगों से हत्या और आक्रमण की कड़ी जुड़ी हुई है, उसी प्रकार असंयमी का सहयोग देने के साथ भी सूक्ष्म हिंसा का मनोभाव जुड़ा हुआ है, इसलिए परिणाम की दृष्टि से चोर का सहयोग करने के कार्य को महत्त्व नहीं दिया जा सकता। जिस प्रकार राजनैतिक दूरदर्शिता की दृष्टि से सैनिक सहयोग का समर्थन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार आत्मिक दृष्टि से असंयमी को दिए जाने वाले सांसारिक सहयोग को धार्मिक उच्चता नहीं दी जा सकती।

तर्क की पद्धति एक होती है, उसके क्षेत्र भले ही भिन्न हों। राजनीति के क्षेत्र में एक दूसरे देश के विरुद्ध शस्त्र सज्जित करना यदि चिंतनीय हो सकता है तो आत्मिक क्षेत्र में एक जीव को दूसरे जीवों के विरुद्ध शस्त्र सज्जित करना क्या चिंतनीय नहीं होता? भगवान ने कहा–'असंयम शस्त्र है।'[1] एक जीव दूसरे जीवों की हिंसा इसलिए करता है कि वह असंयमी है।

संयमी अपने खान-पान के लिए भी किसी जीव की हिंसा नहीं करता। वह माधुकरी वृत्ति के द्वारा सहज प्राप्त भिक्षा से अपना जीवन चलाता है। असंयमी को भिक्षा लेने का अधिकार नहीं है। वह अपने को एक सीमा तक ही संयत कर सकता है।

यदि हम सैनिक सहयोग पर केवल सामाजिक दृष्टि से विचार करते हैं तो उन अमरीकी अधिकारियों की दृष्टि में 'पाकिस्तान को जो सहयोग दिया जा रहा है' वह उचित है, किंतु उन पर नैतिक दृष्टि से विचार करने वाले और चर्च सीनेटर गोरे की दृष्टि में वह उचित नहीं है। उसे उचित मानने के पीछे भी एक दृष्टिकोण है और अनुचित मानने के पीछे भी एक दृष्टिकोण है। उचित मानने का दृष्टिकोण स्वार्थपूर्ण है और अनुचित मानने का दृष्टिकोण वस्तुस्थिति से संबंधित है।

---

१. ठाणं, १०/९३ :
दसविधे सत्थे पण्णत्ते, तं जहा–
सत्थमग्गी विसं लोणं, सिणेहो खारमबिलं।
दुप्पउत्तो मणो वाया, काओ भावो य अविरती॥

आचार्य भिक्षु ने कहा– मैं असंयमी को सांसारिक सहयोग देने का समर्थन करने में अपने को असमर्थ पाता हूं। इसमें आध्यात्मिक तथ्यों का विश्लेषण है। केवल सामाजिक स्वार्थ की दृष्टि से सोचने वाले, संभव है इस विशुद्ध आध्यात्मिक विचार से सहमत न भी हो सकें।

2. अहिंसा का ध्येय

कोई आदमी नीम, आम आदि वृक्षों को न काटने का व्रत लेता है, वृक्ष सुरक्षित रहते हैं। कोई आदमी तालाब, सर आदि न सुखाने का नियम करता है, तालाब जल से परिपूर्ण रहता है। कोई आदमी मिठाई न खाने का व्रत करता है, मिठाई बचती है। कोई आदमी आग लगाने और गांव जलाने का त्याग करता है, गांव और जंगल की सुरक्षा होती है। कोई आदमी चोरी करने का त्याग करता है, दूसरों के धन की रक्षा होती है।

वृक्ष आदि सुरक्षित रहते हैं, वह अहिंसा का परिणाम है, उद्देश्य नहीं है।[१]

जीव-रक्षा अहिंसा का परिणाम हो सकता है, पर उसका प्रयोजन नहीं है। नदी के जल से भूमि उपजाऊ हो सकती है, पर नदी इस उद्देश्य से बहती है, यह नहीं कहा जा सकता।

अहिंसा का उद्देश्य क्या है? आत्मशुद्धि या जीव-रक्षा? इस प्रश्न पर सब एकमत नहीं हैं। कई विचारक अहिंसा के आचरण का उद्देश्य जीव-रक्षा बतलाते हैं और कई आत्मशुद्धि। कभी ऐसा भी होता है कि जीव-रक्षा होती है और आत्मशुद्धि नहीं होती, संयम नहीं होता।

कभी ऐसा भी होता है कि आत्मशुद्धि होती है, संयम होता है, जीव-रक्षा नहीं होती। अहिंसा जीव-रक्षा के लिए हो तो आत्मशुद्धि या संयम की बात गौण हो जाती है। आचार्य भिक्षु ने कहा–अहिंसा में जीव-रक्षा की बात गौण है, मुख्य बात है आत्मशुद्धि की। एक संयमी सावधानीपूर्वक चल रहा हैं,

---

१. अणुकम्पा री चौपई, ५.१२-१५ :

नींब आंबादिक विरष नो, किण ही कीधो हो वाढण रो नेम।
इविरत घटी तिण जीव नी, विरष उभो हो तिणरो धर्म केम॥
सर द्रह तलाव फोडण तणों, सूंस लेइ हो मेट्या आवता कर्म।
सर द्रह तालाव भर्या रहें, तिण मांहि हो नहीं जिणजी रो धर्म॥
लाडू घेवर आदि पकवांन ने, खाणा छोड्या हो आतम आंणी तिण ठाय।
वेंराग वध्यों तिण जीव रें, लाडू रह्यों हो तिणरो धर्म न थाय॥
दव देवो गांम जलायवों, इत्यादिक हो सावद्य कार्य अनेक।
ए सर्व छोडावें समझाय नें, सगला री हो विध जांणों तूमें एक॥

उसके पैर से कोई जीव मर गया, तो भी वह हिंसा का भागी नहीं होता, उसके पाप कर्म का बंधन नहीं होता।[१]

एक संयमी असावधानीपूर्वक चल रहा है, उसके द्वारा किसी भी जीव का घात नहीं हुआ, फिर भी वह हिंसक है, उसके पाप कर्म का बंधन होता है।[२]

जहां जीवों का घात हुआ, वहां पाप का बंधन नहीं हुआ और जहां जीवों का घात नहीं हुआ, वहां पाप का बंधन हुआ, यह आश्चर्य की बात है, परंतु भगवान की वाणी का यही रहस्य है।[३]

संयमी मुनि नदी को पार करते हैं। उसमें जीव-घात होता है। उस कार्य में हिंसा का दोष होता तो भगवान उसकी अनुमति नहीं देते। जहां भगवान की अनुमति है, वहां हिंसा का दोष नहीं है। जहां आत्मा का प्रयोग प्रशस्त होता है, हिंसा का दोष नहीं होता, वहीं भगवान की अनुमति होती है।[४]

अहिंसा का मूल स्रोत : आत्मा की सत्-असत् प्रवृत्ति

देह के रहते हुए जीव-घात से नहीं बचा जा सकता, किंतु अहिंसा की पूर्णता आ सकती है। वीतराग या सर्वज्ञ के द्वारा भी जीव-घात हो जाता है, पर उनका संयम अपूर्ण नहीं होता, उनकी अहिंसा अधूरी नहीं होती। अवीतराग संयमी के भी पूर्ण अहिंसा की साधना होती है। हिंसा और अहिंसा का मूल स्रोत आत्मा की असत् और सत् प्रवृत्ति है। जीव-घात या जीव-रक्षा उनकी कसौटी नहीं है।

---

१. जिनाग्या री चौपई, ३.३०
इरजा सुमत चालंतां साधनें, कदा जीव तणी हुवें घात।
ते जीव मूंआ रो पाप साध नें, लागे नहीं अंसमात रे॥

२. वही, ३.३१ :
जो ईर्या सुमत विण साधु चालें, कदा जीव मरें नहीं कोय।
तो पिण साध नें हिंसा छकाय री लागी, पाप तणो बंध होय॥

३. जिनाग्या री चौपई ३.३२ :
जीव मूंआ तिहां पाप न लागों, न मूंआ तिहां लागो पापो।
जिण आगम संभालो जिन आगना जोवो, जिण आग्या में पाप म थापो रे॥

४. वही, ३.१८-२०
साध नंदी उतर्‌यां मांहें दोष हुवें तो, जिण आगना दे नांहि।
जिण आगना देतां पाप नहीं छें, थे सोच देखो मन मांहि रे॥
नंदी उतरें त्यांरो ध्यांन कीसों छें, किसी लेश्या किसा परिणांम।
जोग किसा अधवसाय किसो छें, भला भूंडां री करो पिछांण रे॥
ए पांचूं भला छें तो जिण आगना छें, माठा में जिण आग्या न कोय।
ए पांचूं माठा सूं पाप लागें छें, भलां सूं पाप न होय रे॥

वह व्यावहारिक दृष्टि है। जहां प्रवृत्ति असत् होती है और जीव-घात भी होता है, वहां व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से हिंसा होती है। जहां प्रवृत्ति सत् होती है और जीव-घात भी नहीं होता, वहां व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से अहिंसा होती है। जहां प्रवृत्ति सत् होती है और जीव-घात हो जाता है, वहां निश्चय-दृष्टि से अहिंसा और व्यवहार-दृष्टि से हिंसा होती है। जहां प्रवृत्ति असत् होती है और जीव-घात नहीं होता, वहां निश्चय दृष्टि से हिंसा और व्यवहार-दृष्टि से अहिंसा होती है। जैसे व्यवहार-दृष्टि की अहिंसा से धर्म नहीं होता, वैसे ही व्यवहार-दृष्टि की हिंसा से पाप नहीं होता। जैसे जीव-घात होने पर भी व्यावहारिक हिंसा बंधन-कारक नहीं होती, वैसे ही जीव-रक्षा होने पर भी व्यावहारिक अहिंसा मुक्ति-कारक नहीं होती।

कई लोग इसीलिए सिंह आदि हिंस्र जीवों को मारने में धर्म मानते हैं कि एक को मारने से अनेकों की रक्षा होती है। दूसरी बात, जो जीव-रक्षा को अहिंसा का उद्देश्य बतलाते हैं, उन्हें पग-पग पर रुकना पड़ता है। जीव-रक्षा के लिए जीवों को मारने का भी प्रसंग आ जाता है। अहिंसा का ध्येय जीव-रक्षा हो तो साधन-शुद्धि का विचार सुरक्षित नहीं रहता। आत्मशुद्धि का साधन शुद्ध ही होता है।

जीव-रक्षा को अहिंसा का ध्येय मानने वालों की कठिनाई का आचार्य भिक्षु ने इन शब्दों में चित्र खींचा है– कभी तो वे जीवों की रक्षा में पुण्य कहते हैं और कभी वे जीवों की घात में पुण्य कहते हैं, यह बड़ा विचित्र मत है।[१] चोर चोरी की वस्तु को लुक-छिपकर बेचता है, वह प्रकट रूप में नहीं बेच सकता। उसी प्रकार एक जीव की रक्षा के लिए दूसरे जीवों का घात करने में पुण्य मानते हैं, वे इस मत को प्रकट करते हुए सकुचाते हैं।[२] जो जीवों की रक्षा को अहिंसा का ध्येय मानते हैं, उन्हें बड़े जीवों की रक्षा के लिए छोटे जीवों की घात में पुण्य मानना पड़ता है और वे मानते भी हैं। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने जीव-रक्षा को अहिंसा का ध्येय नहीं माना।

जर्मन विद्वान अलबर्ट स्वीजर भी इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि भगवान महावीर के अनुसार अहिंसा संयम की उपज है। संयम या आत्मा की पवित्रता से संबंधित होने के कारण ही वह पवित्र है। अहिंसा का सिद्धांत जहां करुणा

१. विरत इविरत री चौपई, १७.३८ :
कदे तों पुन कहें जीव खवायां, कदे कहें जीव बचायां पुन।
यां दोयां रों निरणों न कीयों विकलां, यूं ही बकें गेंहला ज्यूं हीयासून॥

२. वही, १७.३९
चोर चोरी री वसत छानें छानें बेचें, चोडें धाडें तिण सूं बेचणी नावें।
ज्यूं जीव खवायां पुन कहें त्यासूं, चोडें लोकां में बतावणी नावें॥

या जीव-रक्षा से जुड़ जाता है, वहां अहिंसा लोकप्रिय बनती है, पर पवित्र नहीं रह सकती। आत्म-शुद्धि का मतलब है, असंयम से बचना। असंयम से बचने को और अहिंसा को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। जहां असंयम से बचाव है, वहां अहिंसा है और जहां अहिंसा है, वहां असंयम से बचाव है, किंतु जीव-रक्षा का अहिंसा के साथ ऐसा संबंध नहीं है। अहिंसा में जीव-रक्षा हो सकती है, पर उसकी अनिवार्यता नहीं है। आचार्य भिक्षु ने इस दृष्टिकोण को तीन उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है।

तीन दृष्टांत

1. एक सेठ की दुकान में साधु ठहरे हुए थे। करीब रात के बारह बज रहे थे। गहरा सन्नाटा था। नि:स्तब्ध वातावरण में चारों ओर मूक शांति थी। चोर आए, सेठ की दुकान में घुसे। ताला तोड़ा। धन की थैलियां ले मुड़ने लगे। इतने में उनकी नि:स्तब्धता भंग करने वाली आवाज आई-भाई! तुम कौन हो? उनको कुछ कहने या करने का मौका ही नहीं मिला कि तीन साधु सामने आ खड़े हो गए। चोरों ने देखा–साधु हैं, उनका भय मिट गया और उत्तर में बोले–महाराज! हम हैं। उन्हें यह विश्वास था कि साधुओं के द्वारा हमारा अनिष्ट होने का नहीं, इसलिए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा–महाराज! हम चोर हैं। साधुओं ने कहा–भाई! इतना बुरा काम करते हो, यह ठीक नहीं।

साधु बैठ गए और चोर भी। अब दोनों का संवाद चला। साधुओं ने चोरी की बुराई बताई और चोरों ने अपनी परिस्थिति। बहुत समय बीत गया। दिन हो चला। आखिर चोरों पर उपदेश असर कर गया। उनके हृदय में परिवर्तन आया। उन्होंने चोरी को आत्म-पतन का कारण मान उसे छोड़ने का निश्चय कर लिया। चोरी न करने का नियम भी कर लिया। अब वे चोर नहीं रहे, इसलिए उन्हें भय भी नहीं रहा। कुछ उजाला हुआ, लोग इधर-उधर घूमने लगे। वह सेठ भी घूमता-घूमता अपनी दुकान के पास से निकला। टूटे ताले और खुले किवाड़ देख कर अवाक्-सा हो गया। तुरंत ऊपर आया और देखा कि दुकान की एक बाजू में चोर बैठे साधुओं से बातचीत कर रहे हैं और उनके पास धन की थैलियां पड़ी हैं। सेठ को बहुत आशा बंधी। कुछ कहने जैसा हुआ, इतने में चोर बोले– सेठजी! यह आपका धन सुरक्षित है, चिंता न करें। यदि आज ये साधु यहां न होते तो आप भी करीब-करीब साधु जैसे बन जाते। यह मुनि के उपदेश का प्रभाव है कि हम लोग सदा के लिए इस बुराई से बच गए और इसके साथ-साथ आपका यह धन भी बच गया। सेठ बड़ा प्रसन्न हुआ। अपना

धन संभाल मुनि को धन्यवाद देता हुआ अपने घर चला गया। यह पहला चोर का दृष्टांत है। इसमें दो बातें हुई–एक तो साधुओं का उपदेश सुन चोरों ने चोरी छोड़ी, इसमें चोरों की आत्मा चोरी के पाप से बची और दूसरी उसके साथ सेठजी का धन भी बचा। अब सोचना यह है कि अहिंसा क्या है? चोरों की आत्मा चोरी के पाप से बची, वह है या सेठजी का धन बचा, वह?

2. कसाई बकरों को लेकर जा रहे थे। उन्हें मार्ग में साधु मिले। उनमें से प्रथम साधु ने कसाइयों को संबोधित करते हुए कहा–भाई! इन बकरों को भी मौत प्रिय नहीं है, यह तुम जानते हो, इनको भी कष्ट होता है, पीड़ा होती है, तुम्हें मालूम है? खैर! इसे जाने दो। इनको मारने से तुम्हारी आत्मा मलिन होगी, उसका परिणाम दूसरा कौन भोगेगा? मुनि का उपदेश सुन कसाइयों का हृदय बदल गया। उन्होंने उसी समय बकरों को मारने का त्याग कर दिया और आजीवन निरपराध त्रस जीवों की हिंसा का भी प्रत्याख्यान कर लिया। कसाई अहिंसक-स्थूल हिंसा के त्यागी बन गए।

यह दूसरा कसाइयों का दृष्टांत है। इसमें भी साधु के उपदेश से दो बातें हुईं–एक तो कसाई हिंसा से बचे। दूसरी उनके साथ-साथ बकरे मौत से बचे। अब सोचना यह है कि अहिंसा क्या है? कसाई हिंसा से बचे, वह है या बकरे बचे, वह? चोर चोरी के पाप से बचे और कसाई हिंसा से, यहां उनकी आत्मशुद्धि हुई। इसलिए यह निःसंदेह अहिंसा है। चोरी और जीव-वध के त्याग से अहिंसा हुई, किंतु इन दोनों के साथ-साथ दो कार्य और हुए। धन और बकरे बचे। यदि इन्हें भी अहिंसा से जोड़ दिया जाए तो तीसरे दृष्टांत पर ध्यान देना होगा।

3. अर्द्धरात्रि का समय था। बाजार के बीच एक दुकान में तीन साधु स्वाध्याय कर रहे थे। संयोगवश तीन व्यक्ति उस समय उधर से ही निकले। साधुओं ने उन्हें देखा और पूछा–भाई! तुम कौन हो? रात्रि के समय में कहां जा रहे हो? यह प्रश्न उनके लिए एक भय था। वे मन ही मन सकुचाए और उन्होंने देखने का यत्न किया कि प्रश्नकर्ता कौन है। देखा तब पता चला कि हमें इसका उत्तर साधुओं को देना है–सच कहें या झूठ? आखिर सोचा–साधुओं के सामने झूठ बोलना ठीक नहीं। कहते संकोच होता है, न कहें, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे इनकी अवज्ञा होती है। यह सोच वे बोले–'महाराज! क्या कहें! आदत की लाचारी है। हम पापी जीव हैं, वेश्या के पास जा रहे हैं।' साधु बोले–'तुम भले मानस दीखते हो, सच बोलते हो, फिर भी ऐसा अनार्य कर्म करते हो? तुम्हें यह शोभा नहीं देता। विषय-सेवन से तुम्हारी वासना नहीं

मिटेगी। घी की आहुति से आग बुझती नहीं।' साधु का उपदेश हृदय तक पहुंचा और उन्होंने तत्काल उस जघन्य वृत्ति का प्रत्याख्यान कर डाला। वह वेश्या कितनी देर तक उनकी प्रतीक्षा करती रही। आखिर वे आए ही नहीं तब वह उनकी खोज में चल पड़ी और घूमती हुई वहीं आ पहुंची। अपने साथ चलने का आग्रह किया, किंतु उन्होंने ऐसा करने से इनकार कर दिया। वह व्याकुल हो रही थी। उसने कहा—'आप चलें, नहीं तो मैं कुएं में गिरकर आत्महत्या कर लूंगी।' उन्होंने कहा—'हम जिस नीच कर्म को छोड़ चुके, उसे फिर नहीं अपनाएंगे।' उसने तीनों का उपेक्षा भाव देखकर कुएं में गिरकर आत्महत्या कर ली।

यह तीसरा व्यभिचारियों का दृष्टांत है। दो बातें इसमें भी हुईं। एक तो साधु के उपदेश से व्यभिचारियों का दुराचार छूटा और दूसरी उनके कारण वह वेश्या कुएं में गिरकर मर गई। अब कुछ ऊपर की ओर चलें। यदि चोरी-त्याग के प्रसंग में बचने वाले धन से चोरों को, हिंसा-त्याग के प्रसंग में बचनेवाले बकरों से कसाइयों को अहिंसा हुई मानी जाए तो व्यभिचार-त्याग के प्रसंग में वेश्या के मरने के कारण उन तीनों व्यक्तियों के हिंसा का पाप हुआ, यह भी मानना होगा।[1]

१. अणुकम्पा री चौपई, ५.१-१०

एक चोर चोरें धन पार को, वले दूजो हों चोरावें आगेंवांण।
तीजों कोई करें अनुमोदनां, ए तीनां रा हो खोटा किरतब जांण॥
एक जीव हणें तसकाय ना, हणावे हो बीजों पर नां प्रांण।
तीजों पिण हरषे मारीयां, ए तीनूंई हो जीव हिंसक जांण॥
एक कुसील सेवें हरष्यों थको, सेवाडे हो ते तो दूजें करण जोय।
तीजों पिण भलो जांणें सेवीयां, ए तीनां रे हो कर्म तणों बंध होय॥
ए सगला नें सतगुर मिल्या, प्रतिबोध्या हो आंण्या मारग ठाय।
किण किण जीवां नें साधां उधर्‍या, तिणरो सुणजो हो विवरा सुध न्याय॥
चोर हिंसक ने कुसीलीया, यांरें तांई रे दीधो साधां उपदेस।
त्यांनें सावद्य रा निरवद किया, एहवो छें हो जिण दया धर्म रेस॥
ग्यांन दरसण चारित तीनूं तणों, साधां कीधो हो जिण थी उपगार।
ते तो तिरण तारण हुआं तेहनां, उतार्‍या हो त्यांने संसार थी पार॥
ए तो चोर तीनूं समझ्या थकां, धन रह्यो रे धणी ने कुसले खेम।
हिंसक तीनूं प्रतिबोधीयां, जीव बचीया हो कीधो मारण रो नेम॥
सील आदरीयो तेहनी, अस्त्री पड़ी हो कूआ मांहें जाय।
यांरो पाप धर्म नहीं साध ने, रह्या मूंआ हो तीनूं इविरत मांय॥
धन रो धणी राजी हुवों धन रह्यां, जीव बचीया हो ते पिण हरषत थाय।
साध तिरण तारण नहीं तेहनां, नारी नें पिण हो नहीं डबोई आय॥
कोइ मूंढ मिथ्याती इम कहें, जीव वचीया हो धन रह्यों ते धर्म।
तो उणरी सरधा रे लेखें अस्त्री मूंई हो तिणरा लागें कर्म॥

जीव-रक्षा को अहिंसा का ध्येय मानने वालों के सामने दूसरी कठिनाइयां भी हैं। बहुत सारे प्रसंग ऐसे होते हैं, जिनमें जीव-रक्षा का प्रश्न दूसरे जीवों के हितों का विरोधी होता है। आचार्य भिक्षु ने ऐसे सात प्रसंग उपस्थित किए, वे इस प्रकार हैं–

1. तलाई मेंढक और मछलियों से भरी है। उसमें काई जमी हुई है। अनेक प्रकार के जीव-जंतु तैर रहे हैं।

2. पुराने अनाज के ढेर पड़े हैं। उनमें कीड़े विचर रहे हैं। अनेक जीवों के अंडे रखे हुए हैं।

3. जमीकंद से गाड़ी भरी है। जमीकंद में अनंत जीव हैं। उन्हें मारने से कष्ट होता है।

4. कच्चे जल के घड़े भरे हैं। जल की एक बूंद में असंख्य जीव होते हैं। जहां जल होता है, वहां वनस्पति होती है। इस दृष्टि से उसमें अनंत जीव हैं।

5. कूड़े के ढेर में भीनी खात पड़ी है। उसमें अनेक जीव-जंतु तिल-मिल कर रहे हैं। अपने किए हुए कर्मों से उन्हें ऐसा अधर्म जीवन मिला है।

6. किसी जगह बहुत चूहे हैं। वे इधर-उधर आ-जा रहे हैं। थोड़ा-सा शब्द सुनते ही वे भाग जाते हैं।

7. गुड़, चीनी आदि मीठी चीजों पर अनेक जीव मंडरा रहे हैं। मक्खियां भिनभिना रही हैं। वे आपस में एक दूसरे को मार डालते हैं। मक्खा, मक्खी को मार डालता है।

तलाई में भैंस आदि पशु जल पीने को आ रहे हैं।

अनाज का ढेर देख बकरियां आ रही हैं।

जमीकंद की गाड़ी पर बैल ललचा रहे हैं।

जल का घड़ा देख गाय जल पीने आ रही है।

कूड़े के जीवों को चुगने के लिए पक्षी आ रहे हैं।

चूहों पर बिल्ली झपट रही है।

मक्खा, मक्खी को पकड़ रहा है।

भैसों को हांकने से तलाई के जीवों की रक्षा होती है।

बकरियों को दूर करने से अनाज के जीवों की रक्षा होती है।

बैलों को हांक देने से जमीकंद के जीव बचते हैं।

गाय को हांकने से जल के जीवों की रक्षा होती है।

पक्षियों को उड़ा देने से कूड़े के जीव जीवित रह सकते हैं।

बिल्ली को भगा दिया जाए तो चूहे के घर शोक नहीं होता है।

मक्खे को थोड़ा इधर-उधर कर देने से मक्खी बच जाती है।

पर अहिंसा के क्षेत्र में सब जीव समान हैं। कठिनाई यह है कि किसको भगाया जाए और किसको बचाया जाए? भैंस को हांका जाए तो उसे कष्ट होता है और न हांका जाए तो तलाई के जीव मरते हैं। ऐसे प्रसंगों में अहिंसक का धर्म यही है कि वह समभाव रखे। किसी के बीच में न पड़े।[1]

जीव-रक्षा को प्रधान मानने वाले इन कठिनाइयों का पार नहीं पा सकते, तब बड़ों के लिए छोटे और बहुत के लिए थोड़े जीवों की हिंसा को निर्दोष मान

१. अणुकम्पा री चौपई, ४.१-१३

नाडो भरीयो छें डेडक माछल्यां, मांहे नीलण फूलण रो पूर हो।
लट फूंहारा आदि जलोक सूं, तस थावर भरीया अरूड हो॥
सुलीया धांन तणो ढिगलो पर्‌यो, मांहें लटां ने ईल्यां अथाय हो।
सुलसल्यां इंडादिक अति घणा, किल विल करें तिण मांय हो॥
एक गाडो भर्‌यों जमीकंद सूं तिणमें जीव घणा छे अनंत हो।
च्यार प्रज्या च्यार प्रांण छें मार्‌यां कष्ट कह्यो भगवंत हो॥
काचा पाणी तणा माटा भर्‌या, घणा जीव छें अणगल नीर हो।
नीलण फूलण आदि लटां घणी, त्यांमें अनंत बताया छे वीर हो॥
खात भीनों उकरडी लटां घणी, गींडोला गधईया जांण हो।
टलबल टलबल कर रह्या यांने कर्मा नाख्या छे आण हो॥
कांयक जायगां में उंदर घणां, फिरें आमां नें सांह्मा अथाग हो।
थोडों सो खडकों सांभलें, तो जाअें दिशोंदिश भाग हो॥
गुल खांड आदि मिसटांन में, जीव चिहुं दिस दोड्या जाय हो।
माख्यां ने मांका फिर रह्या, ते तों हुचकें मांहोमां आय हो॥
नाडों देखी नें आवें भेंसीयां, धांन ढूकें बकरा आय हो।
गाडें आवें बलद पाधरा, माटों आय उभी छें गाय हो॥
पंखी चूगें उकरली उपरें उंदर पासें मिनकी जाय हो।
माखी नें माका पकड़ लें साधु किणनें वचावें छोडाय हो॥
भेंस्यां हाकल्यां नाडा मांहिलां, सगलां रें साता थाय हो।
बकरां नें अलगा कीयां, इंडादिक जीव ते बच जाय हो॥
थोड़ा सा बलदां ने हाकल्यां, तो न मरें अनंत काय हो।
पाणी फूंहारादिक किणविध मरें, नेंडी आवण न दें गाय हो॥
लट गींडोलादिक कुसले रहें, जो पंखी नें दीयें उडाय हो।
मिनकी छछकार नसार दें, तो उंदर घर सोग न थाय हो॥
मांका ने आघो पाछो करें, तो माखी उड नाठी जाय हो।
साधां रे सगला सारिषा, ते तों विचें न पडें जाय हो॥

लेते हैं, किंतु इस मान्यता से अहिंसा का सिद्धांत टूट जाता है। महात्मा गांधी ने भी ऐसे प्रसंग की चर्चा में बताया है–'एक भाई पूछे छे–नाना जंतुओं एक बीजा नो आहार करता अनेक बार जोइए छीए। मारे त्यां एक घरोली ने एवां शिकार करता रोज जोऊं छूं, अने बिलाड़ी ने पक्षीओ नो। शुं ए मारे जोया करवो? अने अटकावतां बीजानी हिंसा करवी? आवी हिंसा अनेक थयाज करे छे, आमां आपणे शुं करवुं? में आवी हिंसा नथी जोइ शूं? घणीए बार घरोली ने वांदानो शिकार करती अने वांदा ने बीजा जंतुओं ना शिकार करता में जोया छे। पण ऐ 'जीवो जीवस्य जीवनम्' नो प्राणी जगत नो कायदो अटकाववानूं मने कदी कर्तव्य नथी जणायुं। ईश्वरनी ए अगम्य गूंज उकेलवानो हुं दावो नथी करतो।'

अहिंसक सब जीवों के प्रति संयम करता है, इसलिए वह सब जीवों की रक्षा करता है। सामाजिक प्राणी समाज की उपयोगिता को ध्यान में रखकर चलते हैं। वे अपने उपयोगी जीवों को बचाते हैं और अनुपयोगी जीवों की उपेक्षा करते हैं। उपयोगिता और अहिंसा का सिद्धांत एक नहीं। गांधीजी ने जो उत्तर दिया,[१] वह काका कालेलकर को नहीं जचा। तब किशोरीलाल भाई ने इसके साथ अपनी व्याख्या और जोड़ दी, वह यह है–

'मन तटस्थ या उदासीन हो तो बचाने का प्रयत्न न किया जाए। जीव को बचाने की वृत्ति जागृत हो जाए, दया भाव उमड़ पड़े तो उसे दबाने की अपेक्षा जीवों को बचाने का प्रयत्न करना अच्छा है।[२]

यह करुणा के उभार की बात है। गांधीजी ने जो कहा–'वह प्रकृति के नियम और सामाजिक उपयोगिता की बात है। अहिंसा की बात इससे भिन्न है और सूक्ष्म है।'

अहिंसावादी और उपयोगितावादी अपने रास्ते पर कई बार मिलेंगे, किंतु अंत में ऐसा अवसर भी आएगा जब उन्हें अलग-अलग रास्ते पकड़ने होंगे और किसी-किसी दिशा में एक-दूसरे का विरोध भी मानना होगा।

---

१. धर्मोदय, पृ. ६३।
बधा ज प्राणिओने बचावानो आपणो धर्म नथी। गरोली जीवडांने खाय छे अे शूं आना पहेला में कोई कदे जोयुं नथी? गरोली पोतानी शोधे छे अेमां अेटले के कुदरती व्यवस्थामां पड़वानु में मारुं कर्तव्य मान्युं नथी। जे जानवरों ने आपणे स्वार्थ खातर के शोख खातर पालीए छीए तेमने बचाववानो धर्म आपणे माथे लीधो छे अेथी आगल आपणाथी जवाय नहीं।

२. वही, पृ. ६३।

6. संघ-व्यवस्था

1. यह मार्ग कब तक चलेगा?

किसी व्यक्ति ने पूछा—महाराज? 'आपका मार्ग बहुत ही संयत है, यह कब तक चलेगा? आचार्य भिक्षु ने कहा—'इस मार्ग का अनुगमन करने वाले साधु-साध्वी जब तक श्रद्धा और आचार में सुदृढ़ रहेंगे, वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करेंगे और स्थानक बांध नही बैठेंगे, तब तक यह मार्ग चलेगा।'

अपने लिए स्थान बनाते हैं, वस्त्र-पात्र आदि की मर्यादा का लोप करते हैं और एक ही स्थान में रहते हैं, वे आचार में शिथिल हो जाते हैं। मर्यादा को बहुमान देकर चलने वाले शिथिल नहीं होते।[१]

2. धर्म शासन

धर्म आराधना है। वह स्वतंत्र मन से होती है। मन की स्वतंत्रता का अर्थ है—वह बाहरी बंधन से मुक्त हो और अपनी सहज मर्यादा में बंधा हुआ हो। कानून बाहरी बंधन है। धार्मिक नियम कानून नहीं हैं। वे मनवाएं नहीं जाते। धर्म की आराधना करने वाले उन्हें स्वयं अंगीकार करते हैं।

आचार्य भिक्षु ने तेरापथ-संघ को संगठित किया। उसकी सुव्यवस्था के लिए अनेक मर्यादाएं निर्धारित कीं। जब उन्होंने विशेष मर्यादाएं बनानी चाही, तब साधु-साध्वियों को पूछा। सभी ने यही इच्छा प्रकट की कि ये होनी चाहिए।[२]

फलित की भाषा में कहा जा सकता है कि मर्यादाओं के निर्माण की सूझ आचार्य भिक्षु की थी और सहमति सबकी। मर्यादा किसी के द्वारा थोपी नहीं गई, बल्कि सबने उसे स्वयं अपनाया।

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, ३०७

२. लिखित, १८३२

आचार्य भिक्षु सूझ-बूझ के धनी थे। उन्होंने व्यवस्था के लिए अनेक बातें सुझाईं, इसलिए वे मर्यादा के कर्ता कहलाए, पर धर्म-शासन की दृष्टि से मर्यादा की सृष्टि उन सबसे हुई है जिन्होंने उसे अंगीकार किया। धर्म वैयक्तिक ही होता है, किंतु जब उसकी सामूहिक आराधना की जाती है, तब वह शासन का रूप ले लेता है।

3. मर्यादा क्यों?

शासन व्यवस्था पर अवलंबित हैं। साधना का स्रोत अकेले में अधिक स्वच्छ हो सकता है, किंतु अकेले चलने की क्षमता सबमें नहीं होती। दूसरे के सहयोग के बिना अकेले रहकर आगे बढ़ना महान पुरुषार्थ का काम है। जैन-परंपरा में एक कोटि एकल-विहारी साधुओं की रही है। उस कोटि के साधु शरीरबल, मनोबल, तपोबल और ज्ञानबल से विशिष्ट सामर्थ्यवान होते हैं। दूसरी कोटि के साधु संघ-बद्ध होकर रहते हैं। जहां संघ है, वहां बंधन तो होगा ही। अकेले के लिए भी बंधन न हो, ऐसा नहीं होता। उसका आत्मानुशासन परिपक्व होता है और वह अकेला होता है, इसलिए उसे व्यावहारिक बंधनों की अपेक्षा नहीं होती।

सामुदायिक जीवन में रहने वाले साधुओं में अधिकांश मनोबल वाले होते हैं तो कुछ दुर्बल मन वाले भी होते हैं। सबका आत्मानुशासन, विवेक और वैराग्य एक सरीखा नहीं होता। आत्मिक विकास में तारतम्य होता है, उसे किसी व्यवस्था के निर्माण से सम नहीं बनाया जा सकता। जीवन-यापन और व्यवहार कौशल में जो तारतम्य होता है, उसे मर्यादाओं द्वारा सम किया जा सकता है। एक गृहस्थ तंबाकू सूंघता है और दूसरा नहीं सूंघता। दोनों साधु बनते हैं। तंबाकू सूंघने वाला साधु हो ही नही सकता, ऐसा नहीं है, फिर भी यह एक व्यसन है। व्यसन साधु के लिए अच्छा नहीं होता। उसे मिटाने के लिए मर्यादा का निर्माण किया जाता है। हमारे संघ में कोई भी साधु तंबाकू सूंघने वाला नहीं है। पहले कुछ थे। उनके इस व्यसन को मिटाने के लिए मर्यादा बनी कि विशेष प्रयोजन के बिना कोई साधु तंबाकू न सूंघे और किसी विशेष प्रयोजन से सूंघे तो जितने दिन सूंघे, उतने दिन दूध, दही, मिठाई आदि 'विगय' न खाए।[१] इस मर्यादा ने तंबाकू सूंघने वालों और न सूंघने वालों का भेद मिटा दिया। आज कोई भी साधु तंबाकू सूंघने वाला नहीं है।

१. मर्यादावली

4. मर्यादा क्या?

आचार्य संघ के लिए मर्यादाओं का निर्माण करते हैं। वे थोपी नही जातीं। थोपी हुई हों तो संभव है, हिंसा हो जाए। बलपूर्वक कुछ भी मनवाना अहिंसा नहीं हो सकती। धर्म-शासन की मर्यादाओं को अहिंसा की भाषा में मार्गदर्शन ही कहना चाहिए। साधनाशील मुनि साधना के पथ में निर्विघ्न भाव से चलना चाहते हैं। निर्विघ्नता अपने आप नहीं आती। उसके लिए वे आचार्य का मार्ग-दर्शन चाहते हैं। आचार्य उन्हें अमुक-अमुक प्रकार से आत्मनियंत्रण के निर्देश देते हैं। वे ही मर्यादाएं बन जाती हैं।

5. मर्यादा का मूल्य

मर्यादा का मूल्य साधक के विवेक पर निर्भर होता है। साधक का मनोभाव साधना की ओर झुका हुआ होता है, तब वह स्वयं नियंत्रण चाहता है। मर्यादाएं मूल्यवान बन जाती हैं। साधक साधना से भटकता है तब मर्यादाओं का मूल्य घट जाता है। आत्मानुशासन की मर्यादा का अवमूल्यन होता देख अल्पविकसित साधकों के लिए कभी-कभी आचार्य को बाहरी नियंत्रण भी करना पड़ता है। यह करना चाहिए या नहीं, यह अहिंसा की दृष्टि से विचारणीय है, किंतु संघीय जीवन में ऐसा हो ही जाता है। बाहरी नियंत्रण पर आधारित मर्यादाएं संघ के लिए आवश्यक होती होंगी, किंतु साधना की दृष्टि से उनका कोई मूल्य नहीं है। साधना की दृष्टि से मूल्यवान मर्यादाएं वे ही हैं, जो आत्मानुशासन से उपजी हों।

6. मर्यादा की पृष्ठभूमि

श्रद्धा के युग में प्रत्येक मर्यादा की सुरक्षा अपने आप होती है। तर्क के युग में सहज नहीं होती। जिस स्थिति को जब बदलना चाहिए, वह ठीक समय पर बदल जाए तो परिणाम अच्छा आता है और उसे आगे सरकाने का यत्न होता है, तो वह बदलती अवश्य है, किंतु प्रतिक्रिया के साथ। सफल मर्यादा वही है, जिसे पालने वालों की श्रद्धा प्राप्त हो। जिसके प्रति निभाने वालों का अधिकांश भाग अश्रद्धाशील हो, आलोचक हो, वह बहुत समय तक नहीं टिक सकती, टिककर भी हित नहीं कर सकती। तार्किक दृष्टिकोण से न तो मर्यादाओं का पालन किया जा सकता है और न करवाया जा सकता है। उसका पालन करने वाला श्रद्धावान हो, हृदयवान हो तभी उसका निर्वाह हो सकता है।

आचार्य भिक्षु ने अपने प्रिय शिष्य भारीमालजी से कहा—'यदि तुझमें किसी ने खामी बताई, तो प्रत्येक खामी के लिए तेला (त्रिदिवसीय उपवास) करना होगा।'

उन्होंने उसे स्वीकार करते हुए कहा–गुरुदेव! यदि कोई झूठमूठ ही खामी बता दे तो?

आचार्य भिक्षु ने कहा–'तेला तो करना ही है। खामी होने पर कोई उसे बताए, तो 'तेला' उसका प्रायश्चित्त हो जाएगा। खामी किए बिना भी कोई उसे बताए, तो मान लेना कि यह कृत कर्मों का परिणाम है।'

भारीमालजी ने आचार्य की वाणी को सहर्ष शिरोधार्य कर लिया।[१] तर्क से यह कभी शिरोधार्य नहीं किया जा सकता।

एक आचार्य ने अपने शिष्य से कहा–'जाओ, सांप की लंबाई को नाप आओ।' शिष्य गया, एक रस्सी से उसकी लंबाई को नाप आया। आचार्य जो चाहते थे, वह नहीं हुआ। आचार्य ने फिर कहा–'जाओ, सांप के दांत गिन आओ।' शिष्य गया, उसके दांत गिनने के लिए मुंह में हाथ डाला कि सांप ने उसे काट खाया। आचार्य ने कहा–'बस काम हो गया।' उसे कंबल ओढ़ाकर सुला दिया। विष की गर्मी ने उसके शरीर में से सारे कीड़ों को बाहर फेंक दिया। अधिकांश लोग, जो अपने आपको कूटनीतिज्ञ मानते हैं, अहिंसा में विश्वास नहीं करते। जहां हिंसा है, बल-प्रयोग है, राजसी वृत्तियां हैं, वहां हृदय नहीं होता, छलना होती है। छलना और श्रद्धा के मार्ग दो हैं। श्रद्धा निश्छल भाव में उपजती है। जहां नेता के तर्क के प्रति अनुगामी का तर्क आता है, वहां बड़े-छोटे का भाव नहीं होता, वहां होता है तर्क की चोट से तर्क का हनन।

आज का चतुर राजनयिक तर्क को कवच मानकर चलता है, पर यह भूल है। प्रत्यक्ष या सीधी बात के लिए तर्क आवश्यक नहीं होता। तर्क का क्षेत्र है अस्पष्टता। स्पष्टता का अर्थ है प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष का अर्थ है–तर्क का अविषय। तर्क की अपेक्षा प्रेम और विश्वास अधिक सफल होते हैं। जहां तर्क होता है, वहां जाने-अनजाने दिल संदेह से भर जाता है। जहां प्रेम होता है, वहां सहज विश्वास बढ़ता है। अहिंसा और कोरी व्यवस्था के मार्ग दो हैं। अहिंसा के मार्ग में तर्क नहीं आता और केवल व्यवस्था के मार्ग में प्रेम नहीं पनपता। तर्क की भाषा में दोनों को अपूर्ण कहा जा सकता है, पर प्रेम कभी अपूर्ण नहीं होता। प्रेम की अपूर्णता में ही तर्क का जन्म होता है। प्रेम की गहराई में सारे तर्क लीन हो जाते हैं।

यह विराट प्रेम ही अहिंसा है, जिसकी गहराई सर्वभूत-साम्य की भावना से उत्पन्न होती है और आत्मौपम्य की सीमा में फिर विलीन हो जाती है। हमारे विश्वास व्यवहारस्पर्शी अधिक हैं, इसलिए यह मार्ग हमें निर्विघ्न नहीं लगता।

१. भिक्षु जश रसायण, ११, ६-१०

व्यवहार-कौशल ने हमारी विशुद्ध आंतरिक प्रवृत्तियों को बुरी तरह दबोच रखा है। आवश्यकता यह है कि हम अपनी स्वतःस्फूर्त अंतःकरण की प्रवृत्तियों को व्यवहार की संकीर्ण सीमा से बाहर जाने दें। मर्यादा के औचित्य का दर्शन हमें वहीं होगा।

आचार्य भारीमालजी ने अपने उत्तराधिकार-पत्र में दो नाम लिखे। मुनि जीतमलजी ने प्रार्थना की–गुरुदेव इस पत्र में नाम एक ही होना चाहिए, दो नहीं। आपने कहा–जीतमल! खेतसी और रायचन्द मामा-भानजे हैं। दो नाम हों तो क्या आपत्ति है? मुनिवर ने फिर अनुरोध किया कि नाम तो एक ही होना चाहिए, रखें आप चाहे जिसका। तब आचार्यवर ने खेतसी का नाम हटा दिया। उनका नाम लिखा गया, उसे उन्होंने गुरु का प्रसाद माना, हटा दिया, उसे भी उन्होंने गुरु का प्रसाद माना। यह प्रेम की पूर्णता है। यदि प्रेम अपूर्ण होता, तो नाम हटने की स्थिति में बहुत बड़ा विवाद उठ खड़ा होता। प्रेम की पूर्णता से असह्य कुछ भी नहीं होता।

7. मर्यादा की उपेक्षा क्यों?

मर्यादा का भाग्य व्यवस्थापक के हाथों में ही सुरक्षित रहता है। अधिकारी व्यक्ति जब अपना या अपने आस-पास का हित देखने लग जाता है, तब मर्यादा पालने वालों की दृष्टि में संदेह भर जाता है। उनकी अनिवार्यता उनके लिए समाप्त हो जाती है। व्यवस्था की कमी व्यवस्थापक के प्रति अश्रद्धा लाती है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि व्यवस्थापक की कमी से व्यवस्था वीर्यहीन बन जाती है। व्यवस्था की अप्रमाणिकता भी उसमें अश्रद्धा उत्पन्न करती है। व्यवस्था के प्रति विश्वास तभी स्थिर होता है, जब वह कभी अधिक और कभी कम साधन प्रस्तुत न करे। व्यवस्था को प्राणवान बनाए रखने के लिए उसे व्यक्ति से अधिक मूल्य मिलना चाहिए।

आचार्य भिक्षु की व्यवस्था इसलिए प्राणवान है कि वे अनुशासन के पक्ष में बहुत ही सजग थे। एक बार की घटना है, आचार्य भिक्षु ने मुनि वेणीरामजी को बुलाने के लिए शब्द किया। उत्तर नहीं मिला। दो-तीन बार आवाज देने पर भी उत्तर नहीं मिल रहा था। आचार्य भिक्षु ने गुमानजी लूणावत से कहा–'लगता है, वेणीराम संघ से अलग होगा'। गुमानजी तत्काल उठे और सामने की दुकान में वेणीरामजी स्वामी के पास जा वह सब सुना दिया, जो आचार्यवर ने कहा था। वे उसी क्षण आचार्यवर के पास आए और वंदना की। आपने कहा–'शब्द करने पर भी नहीं बोलता है? वेणीरामजी ने कहा–'गुरुदेव! मैंने सुना नहीं था।'

उनके नम्र व्यवहार ने आचार्यवर को प्रसन्न कर लिया, किंतु इस घटना से सब साधुओं को अनुशासन की एक सजीव शिक्षा मिल गई।[1]

आचार्य भिक्षु अनुशासन में कभी शिथिलता नहीं आने देते थे। सिंहजी गुजराती साधु थे। वे आचार्य भिक्षु के शिष्य बन गए। कुछ दिन वे अनुशासन में रहे, फिर मर्यादा की अवहेलना करने लगे। यह देख आचार्य भिक्षु ने उन्हें संघ से अलग कर दिया। वे दूसरे गांव चले गए। पीछे से खेतसीजी स्वामी ने कहा–उन्हें प्रायश्चित्त दें, मैं वापस ले आता हूं। आचार्य भिक्षु ने कहा–वह वापस लाने योग्य नहीं है। खेतसीजी ने आचार्य भिक्षु की बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया। वे उन्हें लाने के लिए तैयार हुए। आचार्य भिक्षु ने अनुशासन की डोर को खींचते हुए कहा–'खेतसी! तूने उसके साथ आहार का संबंध जोड़ा तो तेरे साथ हमें आहार का संबंध रखने का त्याग है।' खेतसीजी के पैर जहां थे, वहीं रह गए, फिर सिंहजी की अयोग्यता और अनुशासनहीनता के अनेक प्रमाण सुनने को मिले।[2]

8. अनुशासन की भूमिका

अनुशासन की पूर्णता के लिए अनुशासन करने वाला योग्य हो, इतना ही पर्याप्त नहीं है, उसकी पूर्णता के लिए इसकी भी बड़ी अपेक्षा होती है कि उसे मानने वाले भी योग्य हों। दोनों की योग्यता से ही अनुशासन को समुचित महत्त्व मिल सकता है।

आचार्य भिक्षु शिष्यों के चुनाव को बहुत महत्त्व देते थे। वे हर किसी को दीक्षित करने के पक्ष में नहीं थे। अयोग्य-दीक्षा पर उन्होंने तीखे बाण फेंके। जो शिष्य–शिष्याओं के लोभी हैं, केवल संप्रदाय चलाने के लिए बुद्धि-विकल व्यक्तियों को मूंड-मूंडकर इकट्ठा करते हैं, उन्हें रुपयों से मोल लेते हैं, वे गुणहीन आचार्य हैं और उनकी शिष्य–मंडली कोरी पेटू है।[3]

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, १६३

२. भिक्खु दृष्टान्त, १६६

३. आचार री चौपई, ३.११-१३

चेला चेली करण रा लोभिया रे, एकंत मत बांधण सूं काम रे।
विकलां ने मूंड मूंड भेला करे रे, दिराए ग्रहस्थ ना रोकड दाम रे॥
पूजरी पदवी नाम धरावसी रे, म्हें छां सासण नायक साम रे।
पिण आचारे ढीला सुध नहिं पालसी रे, नहिं कोइ आतम साधन काम रे॥
आचार्य नाम धरासी गुण विना रे, पेटभरा ज्यांरो परवार रे।
लपटी तो हूसी इंद्री पोषवा रे, कपट कर ल्यासी सरस आहार रे॥

कुछ साधु गृहस्थ को इसकी प्रतिज्ञा दिलाते कि दीक्षा मेरे पास ही लेना और कहीं नहीं। यह ममत्व है। ऐसा करना साधु के लिए अनुचित है।[१]

विवेक-विकल व्यक्ति को साधु का स्वांग पहनाने वाले और अयोग्य को दीक्षित करने वाले भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं।[२]

अयोग्य शिष्यों की बाढ़ आ रही थी, उसका कारण था आचार्य-पद की लालसा। आचार्य भिक्षु ने रोग की जड़ को पकड़ लिया। उन्होंने उस पर दोनों ओर से नियंत्रण किया। उन्होंने एक मर्यादा लिखी कि मेरे बाद आचार्य भारीमालजी होंगे। तेरापंथ में आचार्य एक ही होगा, दो नहीं हो सकेंगे।[३] दूसरी ओर आपने उसी मर्यादा-पत्र में एक धारा यह लिखी कि जो शिष्य बनाए जाएं, वे सब भारीमालजी के नाम से बनाए जाएं।[४] इसके द्वारा शिष्य बनाने पर भी नियंत्रण हो गया। जो चाहे, वह आचार्य भी नहीं हो सकता और जो चाहे, वह शिष्य भी नहीं बना सकता। आचार्य हुए बिना शिष्य कैसे बनाए और शिष्यों के बिना आचार्य कैसे बने? यह उभयत: पाश रचकर आचार्यवर अयोग्य दीक्षा की बाढ़ को रोकने में सफल हुए।

आचार्य भिक्षु ने एक अपवाद रखा था। भारीमालजी प्रसन्न होकर किसी साधु को शिष्य बनाने की स्वीकृति दें, तो वह बना सकता है। इस विधि का प्रयोग नहीं हुआ।

कुछ वर्षों तक तो किसी व्यक्ति को दीक्षित कर आचार्य को सौंप देते थे, पर अब वह परंपरा भी नहीं है। वर्तमान में जितनी भी दीक्षाएं होती हैं, उनमें निन्यानवें प्रतिशत आचार्य के हाथों से ही संपन्न होती हैं। एक प्रतिशत कहीं अन्यत्र आचार्य की स्वीकृति से दूसरे साधु-साध्वियों द्वारा संपन्न होती

१. आचार री चौपई, १.१८-१९

दिष्या ले तो मो आगे लीजे, ओर कनें दे पाल जी।
कुगुर एहवो सूंस करावे, ए चोड़ें उंधी चाल जी॥
ए बंधा थी ममता लागे, गृहस्थ सूं भेलप थाय जी।
नशीत रे चोथे उद्देशे, डंड कह्यो जिणराय जी॥

२. वही, १.२३-२४ :

ववेक विकल नें सांग पहराए, भेलो करे आहार जी।
सामग्री में जाय वंदावे, फिर फिर करे खुवार जी॥
अजोग ने दिष्या दीधी ते, भगवंत री आग्या बार जी।
नसीत रो डंड मूल न मान्यों, ते विटल हुवा बेकार जी॥

३. लिखित, १८३२

४. वही, १८३२

हैं। आचार्य को दीक्षा का सर्वाधिकार देकर भी उन्हें एक धारा के द्वारा फिर सचेत किया है–आचार्य भी उसे ही शिष्य बनाएं, जिसे अन्य बुद्धिमान साधु भी दीक्षा के योग्य समझें। दूसरे साधुओं को जिसकी प्रतीति हो उसी को दीक्षा दें, जिसकी प्रतीति न हो उसे दीक्षा न दें। दीक्षा देने के बाद भी कोई अयोग्य हो तो बुद्धिमान साधुओं की सहमति से उसे संघ से पृथक् कर दें।[१]

दीक्षा लेने का मुख्य हेतु वैराग्य है, किंतु केवल वैराग्य से संयम की साधना नहीं हो सकती। विरक्त आदमी इन्द्रिय और मन का संयम कर सकता है, किंतु संयम की मर्यादा इससे भी आगे है। भगवान ने कहा है–जो जीवों को नही जानता, अजीवों को नहीं जानता, वह संयम को कैसे जानेगा? जो जीव को जानता है, अजीव को जानता है, वही संयम को जान सकेगा।[२]

जीव है, अजीव है, बंधन है, उसके हेतु हैं, मुक्ति है, उसके हेतु हैं। साधक के लिए ये मौलिक तत्त्व हैं। इन्हीं के विस्तार को नव-तत्त्व कहा जाता है।

आचार्य भिक्षु ने लिखा कि दीक्षार्थी को नव-तत्त्वों की पूरी जानकारी कराने के बाद दीक्षा दी जाए।[३] आचार्य भिक्षु अपने जीवन में सदा सतर्क रहे। उन्होंने अंतिम शिक्षा में भी यही कहा–'जिस-तिस को मत मूंड लेना, दीक्षा देने में पूरी सावधानी रखना।'[४] इस प्रकार अयोग्य दीक्षा पर कड़ा प्रतिबंध लगा, उन्होंने अनुशासन की भूमिका को सुदृढ़ बना दिया।

9. अनुशासन के दो पक्ष

अनुशासन आत्मशुद्धि के लिए भी आवश्यक होता है और सामुदायिक व्यवस्था के लिए भी। इनमें एक नैश्चयिक पक्ष है और दूसरा व्यावहारिक। मुनि जीवन भर के लिए पांच महाव्रतों को अंगीकार करता है, यह नैश्चयिक अनुशासन का पक्ष है।

महाव्रतों को एक-एक कर स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसका स्वीकार एक साथ होता है। आचार्य भिक्षु के शब्दों में महाव्रत उस धागे में

---

१. लिखित, १८३२

४. दशवैकालिक, ४.१२-१३

जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणई।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहिइ संजमं॥
जो जीवे वि वियाणाइ, अजीवे वि वियाणई।
जीवाजीवे वियाणंतो सो हु नाहिइ संजमं।।

१. लिखित, १८३२

२. वही, १८५६

पिरोई हुई माला है जिसमें मनकों के बीच-बीच में गांठ नहीं होती। वे एक ही सरल धागे में एक ही साथ रहते हैं और धागा टूटता है तो सारे के सारे मनके गिर जाते हैं। अणुव्रत उस धागे में पिरोई हुई माला है, जिसमें प्रत्येक मनके के बीच गांठ होती है। वह एक गांठ के बाद एक होता है और धागा टूटता है तो एक ही मनका गिरता है, सारे के सारे नहीं गिरते।

महाव्रतों की युगपत् प्राप्ति को आचार्यवर ने संवादात्मक शैली से समझाया है–

गुरु–'हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह–ये पांच महान दोष हैं। इनके द्वारा जीव दुःख की परंपरा को बनाए रखता है।'

शिष्य–'भगवन्! सुख की प्राप्ति के उपाय क्या हैं?'

गुरु–'अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–ये पांच महान गुण हैं। इनके द्वारा जीव असीम सुख को प्राप्त करता है।'

शिष्य–'गुरुदेव! मैं अहिंसा महाव्रत को अंगीकार करता हूं। मैं आज से किसी भी प्रकार की हिंसा नही करूंगा, किंतु गुरुदेव! वाणी पर मेरा इतना नियंत्रण नहीं कि मैं असत्य बोलना छोड़ सकूं।'

गुरु–'शिष्य! इस प्रकार महाव्रत अंगीकार नहीं किए जा सकते। असत्य बोलने का त्याग किए बिना तुम अहिंसा महाव्रती कैसे बन पाओगे? असत्य बोलने वाला हिंसा में धर्म बताने में क्या संकोच करेगा?'

असत्य-भाषी इस सिद्धांत का भी प्रचार कर सकता है कि हिंसा में भी धर्म है तो उसे कौन रोकेगा? असत्य और हिंसा दोनों साथ-साथ रहते हैं। जहां हिंसा है, वहां असत्य वचन नहीं भी हो सकता, किंतु जहां असत्य वचन है, वहां हिंसा अवश्य है, इसलिए असत्यभाषी रहकर तुम अहिंसा महाव्रती नहीं बन सकते।

शिष्य–'गुरुदेव! मैं हिंसा और असत्य दोनों का त्याग करूंगा, परंतु मैं चोरी नहीं छोड़ सकता। धन के प्रति मेरी अत्यंत लालसा है।'

गुरु–'तू हिंसा नहीं करेगा, असत्य भी नहीं बोलेगा तो चोरी कैसे कर सकेगा? तूं चोरी कर के सत्य बोलेगा तो चोरी का धन तेरे पास कैसे रहेगा? लोग तुझे चोरी करने भी कैसे देगें?'

दूसरों का धन चुराने से कष्ट होता है। किसी को कष्ट देना हिंसा है। इस प्रकार तेरा पहला महाव्रत टूट जाएगा और तू यह कहे कि धन चुराने में हिंसा नहीं है तो दूसरा महाव्रत भी टूट जाएगा।

शिष्य–'अच्छा गुरुदेव! मैं इन तीनों महाव्रतों को अंगीकार कर लूंगा, पर मैं ब्रह्मचारी नहीं बन सकता। भोग मुझे बहुत प्रिय है।'

गुरु–'अब्रह्मचारी पहले तीनों महाव्रतों को तोड़ देता है। अब्रह्मचर्य सभी गुणों को इस प्रकार जला डालता है जिस प्रकार धुनी हुई रुई को आग। अब्रह्मचर्य के सेवन से जीवों की हिंसा होती है, पहला महाव्रत टूट जाता है। हिंसा नहीं होती, ऐसा कहने पर दूसरा महाव्रत टूट जाता है। अब्रह्मचर्य का सेवन भगवान की आज्ञा के विरुद्ध है, इसलिए तीसरा महाव्रत टूट जाता है। इस प्रकार अब्रह्मचर्य-सेवन से पहले तीनों महाव्रत टूट जाते हैं।'

शिष्य–'गुरुदेव! मैं अपनी आत्मा को वश में करूंगा। आप मुझे ये चारों महाव्रत अंगीकार करा दीजिए, पर पांचवें महाव्रत को अंगीकार करने में मैं अपने को असमर्थ पाता हूं। ममत्व को त्यागना मेरे लिए बहुत कठिन है। परिग्रह के बिना मेरा काम नहीं चल सकता।'

गुरु–'यदि परिग्रह नहीं छोड़ा तो तूने छोड़ा ही क्या? हिंसा, असत्य, चोरी और अब्रह्मचर्य–इन सब रोगों की जड़ परिग्रह ही तो है। परिग्रह की छूट रखकर तू अन्य महाव्रतों का पालन कैसे करेगा? मनुष्य परिग्रह के लिए हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है और भोग स्वयं परिग्रह है। इसलिए परिग्रह रखने वाला शेष महाव्रतों को अंगीकार नहीं कर सकता।'

शिष्य–'गुरुदेव! केवल परिग्रह के कारण यदि मेरे चारों महाव्रत टूटते हैं तो मैं उसे भी त्याग दूंगा। मैं हिंसा आदि पांचों दोषों का मनसा, वाचा, कर्मणा सेवन नहीं करूंगा। अब तो मैं महाव्रती बन गया।

गुरु–'नहीं बने।'

शिष्य–'यह कैसे?'

गुरु–'तुम केवल हिंसा करने का त्याग करते हो, कराने का नहीं। इसका अर्थ हुआ कि तुम हिंसा करा सकते हो। तब भला महाव्रती कैसे? हिंसा करने वाला हिंसक है तो क्या कराने वाला हिंसक नहीं?'

घर में तो पूरा अनाज ही खाने को नहीं मिलता और साधु बनकर बहुत सारे लोग राजसी ठाट भोगने लग जाते हैं। यह महाव्रत की आराधना का मार्ग नहीं है।

शिष्य–'गुरुदेव! मैं हिंसा कराने का त्याग करता हूं, फिर तो कुछ शेष नहीं होगा?'

गुरु–'हिंसा के अनुमोदन का त्याग किए बिना महाव्रत कहां हैं? हिंसा करने, कराने वाला हिंसक है तो उसका अनुमोदन करने वाला अहिंसक कैसे होगा?'

शिष्य–'समझ गया हूं गुरुदेव! हिंसा आदि दोषों का सेवन करने, कराने और उनका अनुमोदन करने का मनसा, वाचा, कर्मणा त्याग करने वाला ही महाव्रती हो सकता है। भगवन्! मैं ऐसा ही होना चाहता हूं।'

'गुरु–जैसी तुम्हारी इच्छा।'[१]

शिष्य–'इनके टूटने का क्रम क्या है? यदि कदाचित् कोई महाव्रत टूट जाए तो शेष तो बचे रहेंगे?'

गुरु–'यह कैसे हो सकता है?'

शिष्य–'तो फिर यह कैसे हो सकता है कि एक के टूटने पर सभी टूट जाएं।'

गुरु–'एक भिखारी को पांच रोटी जितना आटा मिला। वह रोटी बनाने बैठा। उसने एक रोटी बना चूल्हे के पीछे रख दी। दूसरी रोटी तवे पर सिक रही थी, तीसरी अंगारों पर, चौथी रोटी का आटा उसके हाथ में था और पांचवी रोटी का आटा कठौती में पड़ा था।

एक कुत्ता आया। कठौती से आटे को उठाकर ले गया। उसके पीछे-पीछे वह भिखारी दौड़ा। वह ठोकर खाकर गिर गया। उसके हाथ में एक रोटी का आटा था वह धूल से भर गया। उसने वापस आकर देखा–चूल्हे के पीछे रखी हुई रोटी बिल्ली ले जा रही है। तवे पर रखी हुई रोटी तवे पर और अंगारों पर रखी हुई अंगारों पर जल गई। एक रोटी का आटा ही नहीं गया, पांच रोटियां चली गई। गुरु ने कहा–यह अकस्मात् हो सकता है, पर यह सुनिश्चित है कि एक महाव्रत के टूटने पर सभी महाव्रत टूट जाते हैं।' महाव्रत मूल गुण हैं। इनकी सुरक्षा के लिए ही उत्तर गुणों की सृष्टि होती है। मर्यादाएं उत्तर गुण हैं। मूल पूंजी ही न रहे तो उसकी सुरक्षा का प्रश्न ही मूल्यहीन हो जाता है।

अनुशासन और विनय का मूल्य महाव्रती जीवन में ही बढ़ता है। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने एकाधिक बार कहा कि मैंने मर्यादाएं की हैं, उनका मूल्य इसीलिए है कि वे महाव्रतों की सुरक्षा के उपाय हैं।

---

१. आचार री चौपई, २४.१-२२

10. अनुशासन का उद्देश्य

नौका के तीन प्रकार हैं–

1. एक काठ की, जिसमें छेद नहीं होता।
2. एक काठ की, किंतु छेद है।
3. एक पत्थर की।

पहली नौका के समान साधु होते हैं, जो स्वयं तरते हैं और दूसरों को भी तारते हैं।

दूसरी कोटि की नौका के समान साधु का वेश धारण करने वाले हैं, जो स्वयं डूबते हैं और दूसरों को डुबोते हैं।

तीसरी कोटि के समान पांखडी हैं, जो प्रत्यक्ष विरुद्ध हैं, इसलिए उनके जाल में लोग सहसा नहीं फंसते।

वेशधारी प्रत्यक्ष विरुद्ध नहीं होते, इसलिए उनके जाल में लोग सहसा फंस जाते हैं।[१]

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि अनुशासन का भंग उच्छृंखल वृत्तियों से होता है। अंकुश के बिना जैसे हाथी चलता है, लगाम के बिना जैसे घोड़ा चलता है, वैसे ही जो अनुशासन के बिना चलता है, वह नामधारी साधु है।[२]

इस युग में श्रमण थोड़े हैं और वेशधारी अधिक हैं। वे साधु का भेख (वेश) पहनकर मायाजाल बिछा रहे हैं।[३] इस मायाजाल की अंत्येष्टि के लिए उन्होंने मर्यादाएं कीं। उनकी वाणी है–'शिष्यो! वस्त्रों और सुविधाकारी गांवों की ममता में बंधकर असंख्य जीव चारित्र से भ्रष्ट हो गए हैं, इसलिए मैंने शिष्यों की ममता को मिटाने व शुद्ध चारित्र को पालने का उपाय किया है, विनय मूल धर्म व न्याय मार्ग पर चलने का प्रण किया है। वेशधारी विकल शिष्यों को मूंडकर इकट्ठा कर लेते हैं। वे शिष्यों के भूखे होकर परस्पर एक-दूसरे में दोष बतलाते हैं, एक-दूसरे के शिष्यों को फंटा पृथक् कर लेते हैं, कलह

---

१. भिक्खु दृष्टान्त ३०१

२. आचार री चौपई, १.३५

विण अंकुस जिम हाथी चाले, घोडो विगर लगाम जी।
एहवी चाल कुगुरू री जांणों, कहिवा नें साध नांम जी॥

३. आचार री चौपई, २ दु. २

समण थोडा नें मुंड घणा, पांचमें आरे चेन।
भेष लेइ साधां तणो, करसी कूडा फेन॥

करते हैं, मैंने ये चरित्र देखे हैं, इसलिए मैंने साधुओं के लिए ये मर्यादाएं की हैं। शिष्य-शाखा का सन्तोष कराकर सुखपूर्वक संयम पालने का उपाय किया।''[१]

11. विचार-स्वातंत्र्य का सम्मान

भारत में गणतंत्र का इतिहास पुराना है। गणतंत्र का अर्थ है–अनेक शासकों द्वारा चालित राज्य। जनतंत्र जनता का राज्य होता है। गणतंत्र की अपेक्षा जनतंत्र अधिक विकासशील है। विकास की कसौटी है–स्वतंत्रता। स्वतंत्रता का मूल्य है–आध्यात्मिक विचार।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा की स्वतंत्र सत्ता है। वह अपने ही कार्यों द्वारा स्वयं चालित होती है। उसकी व्यवस्था अपने आप में निहित है। प्रत्येक आत्मा स्वयं ब्रह्मा है, स्वयं विष्णु और स्वयं शंकर।

स्वतंत्रता का वास्तविक मूल्यांकन धार्मिक जगत में ही होता है। राजनीति में गणतंत्र या जनतंत्र हो सकता है, पर स्वतंत्रता का विकास नहीं हो सकता। राज्य का मूल मंत्र है–शक्ति और धर्म का मूल मंत्र है–पवित्रता। जहां शक्ति है, वहां विवशता होगी और जहां पवित्रता है, वहां हृदय की शुद्धि होगी।

हृदय की शुद्धि जिस अनुशासन को स्वीकार करती है, वह है धर्मशासन।

विवशता से जो अनुशासन स्वीकार करना होता है, वह है राज्यशासन।

धर्म शासन हृदय का शासन है, इसलिए उसे एकतंत्र, गणतंत्र, जनतंत्र जैसी राजनीतिक संज्ञा नहीं दी जा सकती, फिर भी यदि हम नामकरण का लोभ-संवरण न कर सकें तो आचार्य भिक्षु की शासन प्रणाली को एकतंत्र और जनतंत्र का समन्वय कह सकते हैं।

एकतंत्र इसलिए कि उसमें आचार्य का महत्त्व सर्वोपरि है। आचार्य का महत्त्व सर्वोपरि है, इसलिए इसे 'एकतंत्र' की संज्ञा मिल जाती है, किंतु यह धर्मशासन का एक प्रकार है। इसमें आचार्य को मानने के लिए दूसरों को विवश नहीं किया जाता, किंतु साधना करने वाले स्वयं आचार्य को महत्त्व देते हैं। उनके निर्देश में ही अपनी यात्रा को निर्बाध समझते हैं। जनतंत्र इसलिए कि आचार्य अपने शिष्यों पर अनुशासन लादते नहीं, किंतु उन्हें उन्हीं के हित के लिए उसकी आवश्यकता समझाकर अनुशासित करते हैं, इसलिए यह न केवल एकतंत्र है और न केवल जनतंत्र, किंतु एकतंत्र और जनतंत्र का समन्वय है।

आचार्य भिक्षु ने एक मर्यादा पत्र में लिखा है–'मैंने जो मर्यादाएं की हैं, ये सब साधुओं के मनोभावों को देखकर, उन्हें राजी कर, उनसे कहलाकर कि 'ये

१. लिखित, १८३२

होनी चाहिए' की हैं। जिसका आंतरिक विचार स्वच्छ हो, वह इस मर्यादा पत्र पर हस्ताक्षर करे। इसमें शर्माशर्मी का कोई काम नहीं है। मुंह पर कुछ और तथा मन में कुछ और, यह साधु के लिए उचित नहीं है।'[१] यह हृदय की स्वतंत्रता ही एकतंत्र में जनतंत्र को समन्वित करती है।

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन को जितना महत्त्व दिया है, उतना ही स्वतंत्रता का सम्मान किया है। एक ओर कोई साधु मर्यादा को स्वीकार करे और दूसरी ओर उसकी आलोचना करे, यह स्वतंत्रता नहीं, किंतु अनुशासनहीनता है। स्वतंत्रता वह है कि जो न जंचे, उसे स्वीकार ही न करे। स्वीकार कर लेने पर उसकी टीका-टिप्पणी करता रहे, यह अपने मतदान के प्रति भी न्याय नही है।[२]

एक साधु ने कहा–'मुझे प्रायश्चित्त लेना है, पर मैं आपके पास नहीं लूंगा। मुझे आपका विश्वास नहीं है।'

आचार्य भिक्षु ने कहा–'आलोचना मेरे पास करो, दोष का निवेदन मुझे करो, फिर प्रायश्चित्त भले उस तीसरे साधु से ले लेना।'

प्रायश्चित्त कम-ज्यादा नहीं देना चाहिए, यह अनुशासन का प्रश्न है, इसलिए आपने आलोचना किसी के पास करने की छूट नहीं दी। आलोचना आपके पास होती है तो प्रायश्चित्त देने वाला कम नहीं दे सकता।

प्रायश्चित्त आचार्य के पास ही करना चाहिए, पर उस साधु ने दूसरे साधु के पास करना चाहा। यह उसकी मानसिक दुर्बलता है और आचार्य भिक्षु ने उसे यह छूट दी, वह उनकी मानसिक उच्चता है। यह ऊंचाई उन्हें स्वतंत्रता का सम्मान करने के फलस्वरूप मिली थी। उन्होंने एक मर्यादा पत्र में लिखा–'जो साधु मुझसे प्रायश्चित्त ले, वह मुझ में भरोसा रखे। मुझे जैसा दोष लगेगा, वैसा प्रायश्चित्त मैं दूंगा। प्रायश्चित्त देने के पश्चात् इसे थोड़ा दिया, उसे अधिक दिया यों कहना अनुचित है। जिसे मुझमें विश्वास हो, वह यह मर्यादा स्वीकार करे। जिसे मुझ में विश्वास न हो, वह न करे। मैं अपनी बुद्धि से तोलकर प्रायश्चित्त देता हूं। राग-द्वेषवश कम-ज्यादा दूंगा तो उसका फल मुझे भोगना होगा। इस पर भी किसी को मेरा विश्वास न हो तो वह किसी दूसरे साधु से प्रायश्चित्त ले ले, पर प्रायश्चित्त लेने के बाद किसी प्रकार का विग्रह खड़ा न करे।'[३]

१. लिखित, १८३२
२. वही, १८३२
३. लिखित, १८४१

स्वतंत्रता का सम्मान वही कर सकता है, जो अनुभूति की गहराई में डुबकियां ले चुका हो। आचार्य भिक्षु ने बहुत देखा, बहुत सुना और बहुत सहा।

आचार्य भिक्षु एक बार वायुरोग से पीड़ित हो गए थे। हेमराज जी स्वामी 'गोचरी' गए। भिक्षा की झोली आचार्यवर के सामने रखी। एक पात्र में दाल थी। चने और मूंग की मिली हुई।

आचार्यवर ने पूछा–यह चने और मूंग की दाल किसने मिलाई?

हेमराजजी–'मैंने।'

आचार्यश्री–'रोगी के लिए मूंग की दाल की खोज करना तो दूर रहा, किंतु जो सहज प्राप्त हुई, उसे भी मिलाकर लाया है?'

हेमराजजी–'ध्यान नहीं रहा, अनजाने ऐसा हो गया।'

आचार्यश्री–'यह ऐसी क्या गहरी बात थी, जो ध्यान नहीं रहा?'

हेमराजजी स्वामी को आचार्य भिक्षु की यह बात चुभी। वे उदास हो एकांत स्थान में जा लेट गए। आचार्य भिक्षु ने समय की सूई को कुछ और सरकने दिया। वे आहार कर आए और हेमराजजी स्वामी को संबोधित कर कहा–'अपना अवगुण देख रहा है या मेरा?'

हेमराजजी स्वामी ने कहा–'गुरुदेव! अपना ही देख रहा हूं।'

आचार्य भिक्षु बोले–'मैंने जो कहा है, वह चुभन उत्पन्न करने के लिए नहीं कहा है, किंतु तेरी स्वतंत्र बुद्धि का सम्मान बढ़े, इसलिए कहा है। ठीक-ठीक निर्णय करने में भूल न हो, इसलिए कहा है।[१]

12. संघ-व्यवस्था

भगवान महावीर के समय 14,000 साधु और 36,000 साध्वियां थीं। 9 गण और 11 गणधर थे। उनकी समाचारी एक थी। उनका विभाजन व्यवस्था की दृष्टि से था।

प्राचीन समय में साधु-संघ में सात पद थे–1. आचार्य 2. उपाध्याय, 3. गणी, 4. गणावच्छेदक, 5. स्थविर, 6. प्रवर्तक और 7. प्रवर्तिनी।

इनके द्वारा हजारों-हजारों साधु-साध्वियों का कार्य संचालन होता था। इनमें आचार्य का स्थान सर्वोपरि है। उपाध्याय का काम है–संघ में शिक्षा का प्रसार करना, प्रवचन अविच्छिन्न रहे, वैसी व्यवस्था करना।

१. भिक्खु दृष्टान्त, १६६

गणि–मुनि-गण का व्यवस्थापक।

गणावच्छेदक–गण के विकास के लिए साधुओं की मंडली को साथ लेकर गांव-गांव विहरण करने वाला और उनके संयम का ध्यान रखने वाला।

स्थविर–बड़ी उम्र वाला विशेष अनुभवी मुनि।

प्रवर्तक–संयम की शुद्धि और अभ्यास के लिए प्रेरणा देने वाला।

प्रवर्तिनी–साध्वियों की व्यवस्था करने वाली साध्वी।

एक व्यक्ति ने पूछा–'आपके उपाध्याय कौन हैं?'

आचार्य भिक्षु ने उत्तर दिया–'कोई नही।'

उसने कहा–'उपाध्याय के बिना संघ पूर्ण कैसे होगा?'

आचार्य भिक्षु ने उत्तर दिया–संघ पूर्ण है। सातों पदों का काम मैं अकेला देख रहा हूं।

आचार्य और उपाध्याय एक होते थे–ऐसा प्राचीन साहित्य में मिलता है। आचार्य कई साधुओं को अर्थ पढ़ाते और कई शिष्यों को सूत्र पढ़ाते। जिन शिष्यों को अर्थ पढ़ाते उनके लिए वे आचार्य होते और जिन्हें सूत्र पढ़ाते उनके लिए वे ही उपाध्याय होते। इस प्रकार एक ही व्यक्ति किसी के लिए आचार्य, किसी के लिए उपाध्याय होते।[१]

ओघ निर्युक्ति के अनुसार यह कोई आवश्यक नहीं कि आचार्य और उपाध्याय अलग-अलग ही हों। एक ही व्यक्ति शिष्यों को अर्थ और सूत्र दोनों पढ़ा सकता है, इसलिए वह आचार्य और उपाध्याय दोनों हो सकता है।[२] इससे जान पड़ता है कि एक ही व्यक्ति के आचार्य और उपाध्याय होने की परंपरा पुरानी है, पर सातों पदों का काम एक ही व्यक्ति करे, यह नई परंपरा है। इसका सूत्रपात आचार्य भिक्षु ने किया।

यह प्रथम दर्शन में कुछ अटपटा-सा लगता है। दूसरों के अधिकारों पर प्रहार और व्यक्तिवाद को बढ़ावा देने वाला कार्य-सा लगता है। थोड़े चिंतन के बाद स्थिति ऐसी नहीं रहती। अधिकार का प्रश्न राज्य-शासन में होता है। धर्मशासन में केवल धर्म के पालन का ही प्रश्न होता है। जो मुनि बनते हैं, वे आचार्य, उपाध्याय आदि-आदि पद प्राप्ति के लिए नहीं बनते। वे आत्म-साधना के लिए मुनि बनते हैं।

१. स्थानांगवृत्ति, ५.२.४३८

२. नावश्ययमाचार्योपाध्यायैर्भिन्नैर्भवितव्यम्,
अपितु क्वचिदसावेव सूत्रं शिष्येभ्यः प्रयच्छत्यसावेव चार्थम्। (ओघ. वृ., पृ. ३)

जहां आत्म-साधना गौण और पद प्राप्ति प्रधान बन जाती है, वहां मुनित्व ढोंग बन जाता है। जहां साधना आत्मा की होती है और पद का काम जिसे करना हो वह करे, वहां साधना प्रधान और सर्वोपरि अभिलषणीय तथा पद गौण बन जाता है। जिस साधु-संघ में पद का प्रश्न सर्वोपरि होता है, वह प्राणहीन बन जाता है। पद और प्रतिष्ठा की भूख कोई नई बीमारी नहीं है। यह शाश्वत-सी है। इसका समूल उन्मूलन होना तो बहुत ही कठिन है। इतना अवश्य होता है कि परिस्थिति की उत्तेजना मिलती है, तो वह बढ़ जाती है और उत्तेजना न मिलने पर वह शांत रहती है।

आचार्य भिक्षु ने ऐसी व्यवस्था की, जिससे किसी भी साधु को आचार्य पद की भूख रखने का अवसर ही न मिले।

उन्होंने लिखा–'वर्तमान आचार्य की इच्छा हो तब वह गुरु–भाई अथवा अपने शिष्य को अपना उत्तराधिकारी चुने, उसे सब साधु-साध्वियां आचार्य मान लें। सब साधु-साध्वियां एक ही आचार्य की आज्ञा में रहें, यह परंपरा मैंने की है।'[१]

इस मर्यादा का तेरापंथ के आत्मार्थी साधु-साध्वियों ने बहुत ही आंतरिकता से पालन किया है। आचार्य श्री तुलसी नौवें आचार्य हैं। इन्हें इनके पूर्ववर्ती आचार्य कालूगणी ने बाईस वर्ष की अवस्था में अपना उत्तराधिकारी चुना। उस समय पांच सौ के लगभग साधु-साध्वियां थीं। उसमें वय-प्राप्त भी थे, विद्वान भी थे, सभी प्रकार के थे। यह आंखों देखा विवरण है कि आचार्य तुलसी को संघ ने वही सम्मान दिया, जो महान यशस्वी पूर्ववर्ती आचार्यों को दिया था।

छठे आचार्य माणकलालजी अपने उत्तराधिकारी का निर्वाचन नहीं कर सके। उनका अकस्मात् स्वर्गवास हो गया, फिर साधु-संघ मिला। सब साधुओं ने मुनि कालूजी को भार सौंपा। उन्होंने मुनि डालचन्दजी के नाम की घोषणा की। सब साधु-साध्वियों ने उन्हें अपना आचार्य स्वीकार कर लिया। हमारा इतिहास यह है कि आचार्य पद के लिए कभी कोई विवाद नहीं हुआ।

व्यवस्था आखिर व्यवस्था होती है। वह प्राणवान साधना से बनती है। हमारे आचार्य और साधु जब तक साधना को महत्त्व देंगे, तब तक आचार्य पद का प्रश्न जटिल नहीं बनेगा। साधना के गौण होने पर जो होता है, सो होता ही है।

---

१. लिखित, १८३२

आचार्य के पद के निर्वाचन का प्रश्न जटिल न बने, इसका संबंध दूसरों की अपेक्षा आचार्य से अधिक है। आचार्य व्यक्तिवाद से जितना अस्पृष्ट रह पाए, उतना ही वह विवादास्पद बनने से बचता रहेगा। साधु-साध्वियों से इसका संबंध न हो, ऐसा नहीं है। उनका दृष्टिकोण संघ की अपेक्षा अपना महत्त्व साधने में लग जाए तो आचार्य पद की समस्या जटिल बने बिना नहीं रह पाती। स्वार्थ की दृष्टि खुलते ही सामुदायिकता का रूप धुंधला दीखने लगता है।

13. गण और गणी

आचार्य भिक्षु की व्यवस्था में गणी की अपेक्षा गण का स्थान महत्त्वपूर्ण है। गणी गण में से ही आते हैं। गण स्थायी है, गणी बदलते रहते हैं। वे गण के प्रति उत्तरदायी होते हैं। गण के प्रति जैसी निष्ठा एक साधु की होती है, वैसी ही गणी की होती है। वे गण की सुव्यवस्था के लिए होते हैं। गण न हो तो गणी का अर्थ ही क्या?

गण अवयवी है। गणी और साधु उसके अवयव हैं। गणी की तुलना पेट से की जाती है और साधु-साध्वियों की शेष अवयवों से। पेट से समूचे शरीर को पोषण मिलता है, सभी अवयव उससे रस लेते हैं। सभी बीमारियां भी पेट से होती हैं। आचार्य की स्वस्थता सबसे अधिक अपेक्षित है। इसलिए आचार्य अपने उत्तराधिकारी के निर्वाचन में बहुत सूक्ष्मता से पर्यालोचन करते हैं। आचार्य के निर्वाचन में इन बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है–

(1) आचार-कुशलता, (2) गण-निष्ठा, (3) अनुशासन की क्षमता,

(4) दूसरों को साथ लेकर चलने की योग्यता (5) ज्ञान और व्यावहारिक निपुणता।

वर्तमान आचार्य को विश्वास हो जाता है और वे अपनी आयु के अंतिम समय के लगभग या उससे पहले भी जब उचित लगे, तब वे एक पत्र लिख निर्वाचित मुनि को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर देते हैं। आचार्य भिक्षु ने भारीमालजी को अपना उत्तराधिकारी चुनते समय जो 'लिखत' लिखा, उसी में वर्तमान युवाचार्य का नाम जोड़ एक प्रति लिखी जाती है और उसमें वर्तमान के सभी साधु-साध्वियां अपने हस्ताक्षर करते हैं। यह कार्य उनकी सहर्ष स्वीकृति का सूचक होता है। वर्तमान आचार्य की उपस्थिति में युवाचार्य का कार्य आचार्य जो आज्ञा दे, उसी को क्रियान्वित करना होता है। आचार्य के स्वर्गवास होने के पश्चात् उनके सारे अधिकार युवाचार्य के हस्तगत हो

जाते हैं। गण द्वारा विधिपूर्वक एक 'पट्टोत्सव' मनाया जाता है और आचार्य का बहुत सम्मान किया जाता है। आचार्य का इतना सम्मान शायद ही कहीं देखने को मिले। आचार्य गण के साधु-साध्वियों को शरीर के अवयव मानते हैं। पेट और शेष अवयवों में संघर्ष हो तो समूचे शरीर को क्लेश होता है। दोनों अपना-अपना कार्य करते हैं तब शरीर स्वस्थ रहता है, शक्ति बढ़ती है और सौंदर्य खिलता है। आचार्य भिक्षु की व्यवस्था का प्राण यही सापेक्षता ही है।

गणी का कार्य है गण में समान आचार, समान विचार और समान प्ररूपणा को बनाए रखना। आचार और प्ररूपणा की समानता का मूल विचारों की समानता है। जैसा विचार होता है, वैसा आचार बनता है और वैसी ही प्ररूपणा की जाती है। विचारों में अंतर आता है तब आचार और प्ररूपणा में भी भेद आ जाता है।

विचार समान कैसे हो? यह बहुत बड़ा प्रश्न है कि सब आदमी एक ही प्रकार से कैसे सोचें? शरीर पर नियंत्रण हो सकता है, पर विचारों पर नियंत्रण कैसे हो? विचारों पर नियंत्रण किया जाए तो व्यक्ति की स्वतंत्रता नष्ट होती है। विचारों को खुली छूट दी जाए तो एकता नष्ट होती है। ये दोनों अपूर्ण हैं। साम्यवादी स्वतंत्र विचारों की अभिव्यक्ति पर नियंत्रण लगाते हैं, तो जनतंत्र में विचारों की उच्छृंखलतापूर्वक अभिव्यक्ति होती है। दोनों ही दोषमुक्त नहीं हैं। विचारों की स्वतंत्रता की हत्या न हो और उच्छृंखलता न बढ़े, एकता का धागा न टूटे, इसलिए किसी तीसरी धारा की आवश्यकता है। जहां सिद्धांतवादिता कम होती है, वहां विचार-भेद भी कम होता है। सिद्धांतों की गहराई में विचारों के भेद पनपते रहते हैं। जैनदर्शन सिद्धांतवादी अधिक है। उसमें तत्त्वों की छान-बीन बड़ी सूक्ष्मता से की गई है। अहिंसा और संयम की ऐसी सूक्ष्म रेखाएं हैं कि जिनमें थोड़े में ही विचार-भेद की सृष्टि हो जाती है। इसके साथ अनेकांत का ठीक-ठीक उपयोग किया जाए तो विवाद खड़े भी न हों और हो भी तो वे सहसा मिट जाएं, पर उसका उपयोग बहुत कम किया जाता है।

जैनधर्म के संप्रदायों का इतिहास देखिए। उनकी स्थापना के मूल में जितना एकांत है, उतना अनेकांत नहीं। संप्रदाय बहुत हैं, यह कोई बहुत बड़ा दोष नहीं है। संप्रदायों में अनेकता बहुत है, यह बड़ा दोष है। वीर-निर्वाण के पश्चात् शताब्दियों तक संघ में एकता रही। यद्यपि व्यवस्था की दृष्टि से कुल और गण अनेक थे, पर संघ एक था। वीर-निर्वाण की दसवीं सदी या देवर्धिगणी के पश्चात् संघ की एकता विच्छिन्न-सी होती गई। वर्तमान में

केवल संप्रदाय हैं। संघ जैसी वस्तु आज नहीं है। पहले जो स्थिति संघ की थी वही आगे चलकर संप्रदायों की होने लगी। एक ही संप्रदाय में अनेक मत और अनेक परंपराएं स्थापित होने लगीं।

जैनों में आपसी मतभेद होने के मुख्य विषय आगम हैं। उनकी धार्मिक मान्यता के सर्वोपरि आधार आगम हैं। दिगम्बर जैन कहते हैं–आगम लुप्त हो गए। श्वेताम्बर जैन कहते हैं–कुछ आगम लुप्त हो गए और कुछ आगम अभी भी विद्यमान हैं। कुछ श्वेताम्बर संप्रदाय 45 आगमों को और कुछ 32 आगमों को प्रमाण मानते हैं। 45 को प्रमाण मानने वालों में भी मतैक्य नहीं और मतैक्य उनमें भी नहीं हैं जो 32 को प्रमाण मानते हैं। इसका कारण भी कोई बहुत गहराई में नहीं है। आगम स्वयं अर्थ नहीं करते हैं। वे अपनी अपेक्षाओं को खोलकर हमारे सामने नहीं रख देते। उनका अर्थ करने वाले हम ही होते हैं। उनकी अपेक्षाओं का निर्णय भी हम ही करते हैं। अंतिम निर्णय हमारी ही बुद्धि करती है। हम अपनी बुद्धि द्वारा जिस सूत्र-पाठ की जैसे संगति बिठा सकते हैं, उसे उसी रूप में मान्य करते हैं।

शब्द-ज्ञान को प्रमाण मानने में लाभ यह है कि उससे हमारे उच्छृंखल तर्क पर एक अंकुश लग जाता है। बहुश्रुतों द्वारा संचित ज्ञान-राशि से हमें अपूर्व आलोक मिलता है। हेय-उपादेय का अपूर्व चिंतन मिलता है और वह सबकुछ मिलता है, जो साधना के लिए एक साधक को चाहिए, किंतु पाने वाला केवल प्रकाश ही नहीं पाता, कुछ न कुछ अंधकार भी पाता है। ज्ञान-राशि में अंधकार नहीं होता। हम केवल ज्ञान को नहीं लेते, आगम के आशय को ही नहीं लेते, साथ-साथ शब्दों को भी पकड़ते हैं और शब्दों की पकड़ जितनी मजबूत होती है, उतनी आशय की होती ही नहीं। चातुर्मास में मुनि को एक जगह रहना चाहिए, यह आगमिक विधान है। वर्षाकाल में हरियाली और जीव-जंतु अधिक उत्पन्न होते हैं, मार्ग जल से भर जाते हैं, पानी गिरता है–इन कारणों से चातुर्मास में विहार करने का निषेध है। दक्षिण भारत में कुछ प्रदेश ऐसे हैं, जहां कार्तिक के पश्चात् बरसात शुरू होती है। आशय को पकड़ा जाए तो वहां चातुर्मास शरद और हेमंत में होना चाहिए, किंतु शब्दों की पकड़ ऐसा नहीं होने देती। शब्दों को पकड़कर विचार भेद खड़ा कर देने की समस्या नई नहीं है। इसका सामना भी सभी को करना पड़ता है। इसके द्वारा अनेकता भी उत्पन्न हुई है। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ की व्यवस्था को इस अनेकता के दोष से बचाना चाहा। उन्होंने लिखा है–'किसी साधु को आचार, श्रद्धा, सूत्र या कल्प

संबंधी किसी विषय की समझ न पड़े, तो वह आचार्य तथा बहुश्रुत साधु कहे, उसे मान ले। उनके समझाने पर भी बुद्धि में न बैठे तो उसे केवलीगम्य कर दे, किंतु दूसरे साधुओं को संदेह में डालने का यत्न न करे।'[1]

''श्रद्धा या आचार का कोई नया विषय ध्यान में आए तो उसे बड़ों के सामने चर्चा जाए, औरों से न चर्चा जाए। औरों से उसकी चर्चा कर उन्हें सन्देह में डालने का यत्न न किया जाए। बड़े जो उत्तर दें, वह अपने हृदय में बैठे तो मान लिया जाए और यदि न बैठे तो उसे केवलीगम्य कर दिया जाए। पर उसकी खींचतान बढ़ाकर गण में भेद न डाला जाए।''[2]

आचार्य भिक्षु का यह विधान संघ की एकता को अक्षुण्ण रखने का अमोघ उपाय है। वास्तविक सत्य क्या है? इसका समाधान हमारी बुद्धि के पास नहीं है। हम व्यावहारिक सत्य के आधार पर ही सारा कार्य चलाते हैं। हमने जो निर्णय किया, वही अंतिम सत्य है, इतना आग्रह रखने जैसा सुदृढ़ साधन हमें उपलब्ध नहीं है।

व्यावहारिक सत्य की स्वरूप-मीमांसा कविवर 'प्रसाद' ने बड़े प्रांजल ढंग से की है–

'और सत्य यह एक शब्द तू
कितना गहन हुआ है।
मेधा के क्रीड़ा पंजर का
पाला हुआ सुआ है।
सब बातों में खोज तुम्हारी
रट-सी लगी हुई है।
किंतु स्पर्श यदि करते हम
बनता छुई-मुई है।

हम जिसे सत्य मानते हैं, संभव है वह सत्य न भी हो। हम जिसे सत्य नहीं मानते, संभव है वह सत्य हो। सीमित शब्दों में अनंत सत्य को बांधना भी कठिन है और उसे सीमित बुद्धि द्वारा पकड़ना तो और भी अधिक कठिन है। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने कहा–'हम जो कर रहे हैं, वह उत्तरवर्ती आचार्यों को सही लगे तो करें और सही न लगे तो उसे छोड़ दें।'

---

१. लिखित, १८४५

२. लिखित, १८५०

इस उक्ति के आधार पर अनेक परिवर्तन भी हुए। कुछ लोगों ने प्रश्न उपस्थित किया कि प्रचलित परंपरा में जो परिवर्तन किया है, उसका अर्थ यह हुआ कि या तो वे सही नहीं थे, या आप सही नहीं हैं, या तो उनकी मान्यता सही नहीं थी या आपकी सही नहीं है। इसका समाधान इन शब्दों में किया जाता है—पूर्ववर्ती आचार्यों ने जो किया, उसे उन्होंने व्यवहार सत्य की दृष्टि से सही मानकर किया, इसलिए वे भी सही हैं और अभी जो हम कर रहे हैं, उसे भी व्यवहार सत्य की दृष्टि से सही समझकर कर रहे हैं, इसलिए हम भी सही हैं।

उनकी सत्य-निष्ठा में हमें विश्वास है, इसलिए हमारी दृष्टि से भी वे सही हैं और हमारी सत्य-निष्ठा में उनको विश्वास था, तभी तो उन्होंने हमें यह अधिकार दिया, इसलिए उनकी दृष्टि में हम सही हैं।[१]

सत्य पूर्ववर्ती आचार्यों या साधुओं की पकड़ में ही आ सकता है, यह कोई महत्त्व की बात नहीं है और वह आधुनिक आचार्यों या साधुओं की पकड़ में नहीं आ सकता, इसका भी कोई महत्त्व नहीं है। जो सत्य पहले नहीं पकड़ा गया, वह आज पकड़ा जा सकता है और जो आज नहीं पकड़ा गया, वह पहले पकड़ा गया है। यह विरोध नहीं है। यह सापेक्षता है। ज्ञान, बौद्धिक निर्मलता, चारित्रिक विशुद्धि, दृष्टि-संपन्नता और साधन-सामग्री आदि अधिक उपलब्ध होते हैं तो सत्य के निकट पहुंचने में सुलभता होती है और इनकी उपलब्धि कम हो तो उसके निकट पहुंचना दुर्लभ होता है। इनकी उपलब्धि किसी समय सबकी होती है, यह भी सच नहीं है और किसी समय में किसी की भी नहीं होती, यह भी सत्य से परे है। इस सारी वस्तु-स्थिति को ध्यान में रखकर आचार्य भिक्षु ने जो विधान किया है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण और सैद्धांतिक मतभेदों के कारण आग्रह के गड्ढों में गिरने से बचाता है।

इससे न तो विचार-स्वातंत्र्य का हनन होता है और न आग्रह को बढ़ावा ही मिलता है, जिससे गण में कोई दरार पड़ सके।

इसका सारांश यह है कि मनुष्य अपने विचार को व्यवहार में सत्य मानकर चले, किंतु उसका इतना भी आग्रह न रखे, जिससे संगठन की एकता का भंग हो जाए।

जो सत्य लगता है, उसे छोड़ा भी कैसे जाए और जो सत्य नहीं लगता है, उसे स्वीकार भी कैसे किया जाए, यह जटिलतम समस्या है, पर यह भी उतनी ही बड़ी समस्या है कि जिसे मैं सत्य मानता हूं, वह सत्य ही है, इसका

---

१. श्रद्धा री चौपई, १६.५१

निर्णय मैं कैसे करता हूं? आखिर सीमित बुद्धि, सीमित साधनों और देश-काल की सीमित मर्यादाओं के द्वारा ही तो मैं उसे सत्य मान रहा हूं, इसलिए इतना आग्रह कैसे रख सकता हूं कि जो मैंने पाया है, वही अंतिम सत्य है। जो व्यक्ति अकेला हो या अकेला रहना चाहता हो, वह फिर भी ऐसा आग्रह रख सकता है, किंतु जो किसी समुदाय में रहना चाहे और रहे, वह ऐसा आग्रह कैसे रखे? उसके लिए सरल मार्ग यह है कि बहुश्रुत साधुओं व आचार्य के सामने अपना विचार रख दे, फिर वे जो मार्ग सुझाएं, उसका अनुगमन करे।

यह विचार-स्वतंत्रता का हनन नहीं है। यह सामंजस्य का मार्ग है। यह किसी स्वार्थ या मानसिक दुर्बलता से किया जाए तो वह दोष है। यह निर्दोष तभी है, जब अपनी अपूर्णता और सत्य-शोध की विनम्र भावना से प्रेरित हो किया जाए।

आचार्य भिक्षु ने अंतिम निर्णायक आचार्य को माना है, फिर भी उन्होंने बहुश्रुत साधुओं को उचित स्थान दिया। उन्होंने लिखा है–'किसी विषय को प्रामाणिक या अप्रामाणिक ठहराने का अवसर आए, तो उसके लिए बहुश्रुत साधुओं को भी पूछा जाए।'[१]

किसी साधारण बुद्धि वाले साधु के जैसे कोई विचार-भेद हो सकता है, वैसे बहुश्रुत साधुओं में भी विचार-भेद हो सकता है। सामान्य साधु के लिए यह निर्देश पर्याप्त हो सकता है कि वह बहुश्रुत के मार्ग का अनुगमन करे, किंतु जब दो या अनेक बहुश्रुतों में परस्पर विचार-भेद हो जाए तब क्या किया जाए?

इनके समाधान का पहला सोपान तो यह है कि बहुश्रुत साधु परस्पर बातचीत कर उस चर्चनीय विषय का समाधान ढूंढें। जैसा कि आचार्य भिक्षु ने लिखा है–'कोई चर्चा या श्रद्धा का प्रश्न उपस्थित हो तो बहुश्रुत या बुद्धिमान साधु सोच-विचारकर उसका समाधान ढूंढकर सामंजस्य बिठाएं। किसी विषय का सामंजस्य न बैठे तो खींचतान न करें, उसे केवलीगम्य कर दें, किंतु अंश मात्र भी खींचतान न करें।'[२]

इससे भी काम पूरा न हो तो फिर आचार्य जो निर्णय दे, उसे मान्य कर लें। आचार्य भिक्षु ने इस विषय की अनेक मर्यादा-पत्रों में चर्चा की है। उसका उद्देश्य विचार-स्वातंत्र्य का लोप करना नहीं है। उसका उद्देश्य है विचारों के संघर्ष को उपशांत रखना। वैचारिक पराधीनता जैसे अच्छी बात नहीं है, वैसे

१. लिखित, १८३२
२. लिखित, १८५६

ही वैचारिक संघर्ष भी अच्छा नहीं है। अच्छी बात है मन की शांति और शांति में से ही अच्छे विचार निकलते हैं। जो दूसरों को शंकाशील बनाकर अपने गुट में लेना चाहता है, जो गण में भेद डाल अपना नया गण खड़ा करना चाहता है, यह सब अशांत मन की प्रतिक्रिया है।

आचार्य भिक्षु इसको रोकना चाहते थे, इसलिए उन्होंने पुनरुक्ति का विचार किए बिना बार-बार इसे दोहराया–'कोई श्रद्धा या आचार का नया विषय निकल जाए तो उसकी चर्चा बड़ों से की जाए, पर दूसरों से न की जाए। दूसरों से उसकी चर्चा कर उनको संदिग्ध न बनाया जाए। बड़े जो उत्तर दें, वह अपने हृदय में बैठे तो उसे मान लिया जाए और न बैठे तो उसे केवलीगम्य कर दिया जाए, पर उस विवादास्पद विषय को लेकर गण में भेद न डाला जाए।'[१]

समूचे प्रसंग का सारांश इतना ही है–'अपने विचारों का एकांतिक आग्रह सामान्य साधु भी न करे, बहुश्रुत साधु भी न करे और आचार्य भी न करे। तर्क की पूंछ को बहुत लंबी न बनाए। सामान्य साधु बहुश्रुत और आचार्य पर विश्वास करे और आचार्य बहुश्रुतों की बात पर समुचित ध्यान दें।' इस प्रकार यह एक ऐसी शृंखला गूंथी है, जिसमें न कोई पूरा स्वतंत्र है और न कोई पूरा परतंत्र। स्वतंत्रता उतनी ही है कि जिससे साधना का मार्ग अवरुद्ध न हो और परतंत्रता उतनी ही है कि जिससे साथ में रहने में बाधा उत्पन्न न हो। गण की शक्ति, सौहार्द और विकास का पथ अवरुद्ध न हो।

14. निर्णायकता के केन्द्र

शास्त्रों में 'आचार्य' शब्द के अनेक निरुक्त और परिभाषाएं हैं। उनके पीछे अनेक अभिप्राय और अनेक कल्पनाएं हैं।

कुछ वर्ष पहले मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर मैंने एक कविता लिखी। उसमें आचार्य की परिभाषा इन शब्दों में है–

तू जो कहता सत्य नहीं है, मैं कहता हूं सत्य वही है।
'तू'-'मैं' के इस झगड़े का जो शांति-पाठ आचार्य वही है।

संगठन की दृष्टि से यह परिभाषा मुझे बहुत अच्छी लगी। परिभाषा की सूझ मेरी नहीं है। मेरी अपनी वस्तु केवल कविता की पंक्तियां हैं। यह मौलिक तत्त्व आचार्य भिक्षु और उनके महान भाष्यकार जयाचार्य से मिला।

जहां संगठन होता है, वहां अनेक व्यक्ति होते हैं और जहां अनेक व्यक्ति

१. लिखित, १८५०

हैं, वहां अनेक विचार होते हैं। अनेक विचार संगठन को एक कैसे बनाए रख सकते हैं?

संगठन आचार और विचार की एकरूपता के आधार पर ही टिक सकता है। जितने व्यक्ति उतने ही प्रकार के विचार–यह स्थिति संगठन के अनुकूल नहीं होती है। व्यक्तिगत विचारों की स्वतंत्रता होती है और वह होनी ही चाहिए, किंतु उनकी भी एक सीमा है। जैसे एक व्यक्ति अपने विचारों के लिए स्वतंत्र है वैसे दूसरा भी है। वैयक्तिक स्थिति में ऐसा हो सकता है, पर मिलकर चलने की स्थिति में ऐसा नहीं हो सकता।

संगठन व्यावहारिक होता है। व्यवहार की स्थिति का अनुमापन व्यवहार से ही होता है। वहां विचारों पर अंकुश नहीं लगता, किंतु एकरूपता में खलल डालने वाले विचार पर नियंत्रण अवश्य होता है। इसे भले ही संगठन की दुर्बलता माना जाए, पर यह किसी एक व्यक्ति की दुर्बलता नहीं है। जिन्होंने संगठन करना चाहा है, उन्होंने यह भी चाहा है कि हम एकरूप रहें। इस एकरूपता की चाह में से ही तत्त्व प्रकट होता है कि उसमें बाधा डालने वाले विचारों पर नियंत्रण रहे। साथ-साथ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि कोरी एकरूपता भी अभीष्ट नहीं है। मूल सूखने लगे तब सौंदर्य का मूल्य ही क्या है और वह टिकता भी कब है? सत्य, आचार और संयम की निष्ठा बनी रहे, उसी स्थिति में संगठन का महत्त्व है और उसी स्थिति में इसका महत्त्व है कि साधारण-सी बातों को लेकर अनेकता का बीज न बोया जाए। कोई नया विचार आए तो उसका प्रयोग संघ या संघपति-जहां निर्णायकता केन्द्रित हो, उन्हीं की स्वीकृति से किया जाए।

एकतंत्रीय अनुशासन में निर्णायक एक होता है और बहुतंत्र में कुछेक। सबके सब निर्णायक कहीं भी नहीं होते। एकतंत्र में एक के सामने निन्यानवे की उपेक्षा हो सकती है और बहुतंत्र में इकावन के सामने उनचास की। सर्वसम्मति के निर्णय की स्थिति श्रद्धा ही है। विचार, तर्क या बुद्धि के प्रवाह से वह स्थिति नहीं बनती।

श्रद्धा का अर्थ है–आग्रहहीनता, नम्रता और सत्य-शोध की सतत साधना। सत्य का शोधक कभी भी आग्रही नहीं होता। वह अपने विश्वास को दृढ़ता के साथ निभाता है, फिर भी नम्रता को नहीं छोड़ता।

व्यक्ति-व्यक्ति की रुचि विचित्र होती है। संस्कार भी निराले होते हैं। अधिकांश व्यक्ति अपनी रुचि और संस्कारों को जितना महत्त्व देते हैं, उतना

वस्तुस्थिति को नहीं देते, परंतु साधना का मार्ग संस्कारों से ऊपर उठकर चलने का है। श्रद्धा की यही विशेषता है कि उसमें सारी शंकाएं लीन हो जाती हैं। नदियां कहीं सीधी चलती हैं और कहीं टेढ़ी। आखिर वे समुद्र के गर्भ में लीन हो जाती हैं। विचारों के प्रवाह कहीं ऋजु होते हैं और कहीं वक्र, आखिर वे आचार्य के निर्णय में लीन हो जाते हैं। यही है आचार्य भिक्षु की मर्यादा का माहात्म्य।

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेकोगम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

दार्शनिक-कवि की वाणी में अद्वैत का जो काल्पनिक चित्र है उसे आचार्य भिक्षु ने साकार बना दिया। उनकी 'मर्यादावली' के अनुसार आचार्य सबके गम्य बन गए।

15. गण में कौन रहे?

सम-विचार, आचार और निरूपणा के प्रकार में जिन्हें विश्वास होता है, वे गण के सदस्य होते हैं। गण किसी एक-दो से नहीं बनता। वह अनेकों की सम-जीवन परिपाटी से बनता है। गण तब बनता है जब एक-दूसरे में विश्वास हो, गण तब बनता है जब एक-दूसरे में आत्मीयता हो, गण तब बनता है जब सब में ध्येय की निष्ठा हो।

आचार्य भिक्षु ने लिखा–'सब साधु शुद्ध आचार का पालन करें और परस्पर में प्रगाढ़ प्रेम रखें।'

प्रेम परस्पर में रखना चाहिए–यह इष्ट बात है। इसका उपदेश देना भी इष्ट है, पर इष्ट की उपलब्धि कैसे हो? आचार्य भिक्षु ने उसके कई मार्ग सुझाएं हैं–

1. सभी साधु गण के साधु-साध्वियों को साधु माने
2. जो अपने आपको भी साधु माने, वह गण में रहे।
3. कपटपूर्वक गण में साधुओं के साथ न रहे।
4. साधु नाम धराकर असाधुओं के साथ रहना अनुचित है।
5. जिसका मन शुद्ध हो, वह ऐसा विश्वास दिलाए
6. वह गण के किसी भी साधु-साध्वी का अवगुण बोलने का, आपस में एक-दूसरे के मन में भेद डालने का, एक-दूसरे को असाधु मनवाने का त्याग करे।[१]

---

१. लिखित, १८५०

7. मेरी इच्छा होगी तब तक गण में बैठा हूं, इच्छा नहीं होगी तब यहां से चला जाऊंगा–इस अनास्था से गण में न रहे।

8. संकोचवश गण में न रहे।[१]

इसमें गण, गणी और गण के सभी सदस्यों के प्रति और अपने प्रति भी आस्था की अभिव्यंजना है। जिसकी ऐसी आस्था होती है, वह दूसरों का प्रेम ले सकता है और अपना प्रेम दूसरों को दे सकता है। प्रेम तभी टूटता है जब एक-दूसरे में अनास्था का भाव होता है।

16. गण में किसे रखा जाए?

योग्यता और अयोग्यता का अंकन कई दृष्टियों से होता है। स्वस्थ व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से योग्य होता है और अस्वस्थ व्यक्ति अयोग्य। बौद्धिक योग्यता किसी में होती है, किसी में नहीं होती। कोमल प्रकृति वाला व्यक्ति स्वभाव से योग्य होता है और कठोर प्रकृति वाला अयोग्य।

शारीरिक अशक्ति की स्थिति में दूसरों को कष्ट होता है। सेवा का कष्ट शारीरिक है, पर वह वस्तुत: कष्ट नहीं, श्रम है।

बौद्धिक योग्यता हो तो बहुत लाभ होता है। वह न हो तो उतना लाभ नहीं होता, पर उससे किसी को क्लेश भी नहीं होता।

स्वभाव की चंडता जो है, वह दूसरों में क्लेश उत्पन्न करती है।

आचार्य भिक्षु ने शारीरिक अयोग्यता वाले व्यक्ति को गण में रखने योग्य बतलाया है। उन्होंने वैसे व्यक्ति को गण में रखने के अयोग्य बतलाया है, जो अपने स्वभाव पर नियंत्रण न रख सके। उन्होंने लिखा–

1. कोई साधु रुग्ण हो या बूढ़ा हो तब दूसरे साधु अग्लान भाव से वैयावृत्त्य–सेवा करें।

2. उसे संलेखना–विशिष्ट तपस्या करने को न उकसाएं।

3. वह विहार करना चाहे और उसकी आंखें दुर्बल हो तो दूसरा साधु उसे देख-देख कर चलाए।

4. वह रुग्ण हो तो उसका बोझ दूसरे साधु लें।

5. उसका मनोबल बढ़ता रहे, वैसा कार्य करें।

6. उसमें साधुपन हो तो उसे 'छेह' न दें–छोड़ें नहीं।

---
१. लिखित, १८४५

7. वह अपनी स्वतंत्र भावना से वैराग्यपूर्वक संलेखना करना चाहे तो उसे सहयोग दें, उसकी सेवा करें।

8. कदाचित् एक साधु उसकी सेवा करने में अपने को असमर्थ माने तो सभी साधु अनुक्रम से उसकी सेवा करें।

9. कोई सेवा न करे तो उसे टोका जाए और उससे कराई जाए।

10. रुग्ण साधु को सब साधु इकट्ठे होकर जो कहे, वह आहार दिया जाए।

11. किसी साधु का स्वभाव अयोग्य हो, जिसे कोई निभा न सके, जिसे कोई साथ न ले जाए, तब उसे विनम्र व्यवहार करना चाहिए। बड़े साधु जैसे चलाएं, वैसे चले। विनम्र व्यवहार में न लग सके तो वह तपस्या में लग जाए। इन दोनों में से कोई कार्य न करे तो उसके साथ फिर कौन क्लेश करता रहेगा?

12. रोगी की अपेक्षा स्वभाव से अयोग्य अधिक दु:खदायी होता है। उसे गण में रखना अच्छा नहीं है।

13. जो मर्यादाओं को स्वीकार करे, उसे गण में रखा जाए।[१]

योग्य व्यक्ति गण में होते हैं, उससे गण की शोभा बढ़ती है और साधना का पथ भी सरल बनता है। अयोग्य व्यक्ति में साधना का भाव नहीं होता, अपनी प्रकृति पर वह नियंत्रण करना नहीं चाहता या कर नहीं पाता। उससे गण की अवहेलना होती है और दूसरों को भी बुरा बनने का अवसर मिलता है। कुछ व्यक्ति निसर्ग से ही अयोग्य होते हैं और कुछेक अपने आप पर नियंत्रण न रखने के कारण अयोग्य बन जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने उन कारणों का उल्लेख किया है, जिनसे अयोग्यता आती है और बढ़ती है। उनकी वाणी है–'शिष्यो! कपड़े और सुख-सुविधा मिले, वैसे गांवों की ममता से बहुत जीव चरित्र से भ्रष्ट हुए हैं।'[२]

कुछ कारण ऐसे होते हैं कि किसी साधु को गण से पृथक् करना पड़ता है और कुछ प्रसंगों में साधु स्वयं गण से पृथक् हो जाते हैं।

अकल्पनीय कार्य करने वाले साधु को गण से पृथक् करने की विधि बहुत ही प्राचीन है।[३] दीक्षित करने का अधिकार जैसे मूलत: आचार्य के हाथ में है,

---

१. लिखित : १८४५

२. लिखित, १८३२

३. स्थानांग, ३.३५०

वैसे ही किसी को गण से पृथक् करने का अधिकार भी आचार्य के हाथ में है। परंपरा यह हो गई कि पहले कोई व्यक्ति योग्य जान पड़ता तो साधु उसे दीक्षित कर लेते, पर अब ऐसा नहीं होता। गण से पृथक् करने का अधिकार इससे अधिक व्यापक है। कोई साधु गण की मर्यादा के प्रतिकूल चले तो उसे गण से पृथक् करने का अधिकार सबको है। ऐसे भी प्रसंग आए हैं कि गृहस्थों ने भी साधुओं को पृथक् कर दिया, परंतु इस कार्य में विवेक की बहुत आवश्यकता है। अधिकार होने पर भी उपयोग वही करता है और उसे ही करना चाहिए, जो परिस्थिति का सही-सही अंकन कर सके।

कोई व्यक्ति जैन मुनि बनता है, यह बहुत बड़ी बात है। मुनि कुछेक वर्षों के लिए नहीं बनता, उसे जीवन भर मुनि धर्म का पालन करना होता है। गृहस्थ-जीवन से उसके सारे संबंध छूट जाते हैं। उसके पास भावी जीवन की कोई निधि नहीं होती। वह निरालंब मार्ग में ही चलता है। वैसी स्थिति में पूर्ण चिंतन किए बिना किसी को गण से पृथक् कर देना न्याय नहीं होता, इसलिए सामान्य स्थिति में इस विषय में अधिकार का उपयोग करने से पूर्व आचार्य की सहमति प्राप्त करना अपेक्षित-सा लगता है।

स्वयं पृथक् होने के अनेक कारण हैं। कुछ कारणों का उल्लेख आचार्य भिक्षु ने किया है। जैसे–

1. कोई साधुपन का पालन न कर सके।
2. किसी भी साधु से स्वभाव न मिले।
3. क्रोधी या ढीठ जानकर कोई भी अपने पास न रखे।
4. विहार करने के लिए सुविधाजनक गांव में न भेजा जाए।
5. कपड़ा मनचाहा न दिया जाए।
6. अयोग्य जानकर दूसरे साधु मुझे गण से पृथक् करने वाले हैं–ऐसा मालूम हो जाए।

ये तथा ऐसे और भी अनेक कारण हैं जिनसे प्रभावित होकर कोई साधु गण से पृथक् हो जाता है।[१]

17. पृथक् होते समय

साधु-जीवन साधना का जीवन है। उसमें बल से कुछ भी नहीं होता। साधना हृदय की पूर्ण स्वतंत्रता से ही हो सकती है। आचार्य साधुओं पर

१. लिखित, १८५०

अनुशासन करते हैं, पर तभी जब साधु ऐसा चाहें। मार्गदर्शन या शिक्षा प्रार्थी को दी जाती है। कोई प्रार्थी ही न हो तो उसे कौन क्या मार्ग दिखाए और कौन क्या सीख दे? शिष्य आचार्य के अनुशासन का प्रार्थी होता है, इसलिए आचार्य उसे अनुशासन देते हैं। जब वह प्रार्थी न रहे तब आचार्य भी अपना हाथ खींच लेते हैं, फिर वह स्वतंत्र है, जहां चाहे वहां रहे और जो चाहे सो करे। गण से पृथक् होने का यही अर्थ है।

आचार्य भिक्षु ने इसके लिए कुछ निर्देश दिए हैं। उनके अभिमत में गण से पृथक् होते समय और होने के पश्चात् भी कुछ शिष्टताओं का पालन करना चाहिए–

1. किसी का मन गण से उचट जाए अथवा किसी से साधु-जीवन न निभे, उस समय वह गण से पृथक् हो तो किसी दूसरे साधु को साथ न ले जाए।

2. किसी को शिष्य बनाने के लिए गण से पृथक् हो तो शिष्य बनाकर नया मार्ग या नया संप्रदाय न चलाए।

3. गण से पृथक् होने का मन हो जाने पर गृहस्थों के सामने दूसरे साधुओं की निंदा न करे।

4. गण में रहकर ग्रंथों की प्रतिलिपियां करे या कराए अथवा किसी के पास से ले, वे तब तक ही उसकी हैं, जब तक गण में रहे। गण से पृथक् होने के समय उन्हें साथ न ले जाए, क्योंकि वे सब गण के साधुओं की 'निश्रा' में हैं।

5. कोई पुस्तक आदि गृहस्थों से ले, उन्हें आचार्य की, गण की 'निश्रा' में ले, अपनी 'निश्रा' में न ले। अनजाने में कोई ले भी ले तो वे पुस्तक-पन्ने आचार्य के हैं, गण के हैं, उन्हें गण से पृथक् होते समय साथ न ले जाए।

6. पात्र आदि भी गण में रहता हुआ ले, वे भी आचार्य और गण की 'निश्रा' में ले, आचार्य दे वह ले। पृथक् होते समय उसे साथ न ले जाए।

7. नया कपड़ा ले, वह भी आचार्य और गण की 'निश्रा' में ले। गण से पृथक् होते समय उसे साथ न ले जाए।

8. गण से पृथक् होने के पश्चात् गण के साधु-साध्वियों के अवगुण न बोले।

9. शंका बढ़े, आस्था घटे, वैसी बात न कहे।

10. गण में से किसी साधु को फंटाकर साथ न ले जाए, वह आए तो भी न ले जाए।[१]

---

१. लिखित, १८५०१

11. गण से पृथक् कर देने पर या स्वयं हो जाने पर वहां न रहे, जहां इस गण के अनुयायी रहते हैं। चलते-चलते मार्ग में वह गांव आ जाए तो एक रात से अधिक न रहे। कारण विशेष में रहे, तो 'विगय' न खाए।

(कोई पूछे यह निषेध क्यों, तो उसका कारण आचार्य भिक्षु ने इन शब्दों में बताया है–'राग-द्वेष और क्लेश बढ़ने तथा उपकार घटने की संभावना को ध्यान में रखकर ऐसा किया है।')

गण से पृथक् होते समय एक पुराना 'चोलपट्टा', एक 'पछेवड़ी', चद्दर, मुखवस्त्रिका, पुराने कपड़े और पुराना रजोहरण इनके सिवाय और कोई उपकरण या पुस्तक साथ में न ले जाए।[१] इन निर्देशों में सामुदायिक जीवन प्रणाली की एक स्पष्ट रूपरेखा है। आचार्य भिक्षु ने जितना बल संविभाग पर दिया है, उतना ही बल प्रत्येक धर्मोपकरण के संघीयकरण पर दिया है। साधु किसी भी धर्मोपकरण पर ममत्व न रखे, यह आगमिक सिद्धांत है। इसे उन्होंने व्यवस्था के द्वारा व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

18. गुटबंदी

साधना और गुटबंदी का भला क्या मेल? गुटबंदी वे करते हैं, जिन्हें अधिकार हथियाना हो। गुटबंदी वे करते हैं, जिन्हें सत्ता हथियानी हो। साधना धर्म है। जहां धर्म होता है, वहां न अधिकार होता है और न सत्ता, फिर भी समुदाय आखिर समुदाय है। वह गुटबंदी की परिस्थिति है। जिनके विचार और स्वार्थ एक रेखा पर पहुंचते हैं, वे स्नेह-सूत्र में बंध जाते हैं और परमार्थ को कुछ विस्मृत-सा कर देते हैं। साधु-संघ में गुटबंदी के जो कारण बनते हैं, उनका उल्लेख आचार्य भिक्षु ने किया–

'किसी साधु को विहार-क्षेत्र साधारण-सा सौंपा गया अथवा कपड़ा साधारण दिया गया। इन कारणों तथा ऐसे ही दूसरे कारणों से कुपित होकर वे आचार्य की निंदा करते हैं, अवगुण बोलते हैं, परस्पर मिलकर गुटबंदी करते हैं।[२]

गण में रहते हुए भी दूसरे साधुओं के मन में भेद डालकर जो गुटबंदी करते हैं, वे विश्वासघाती हैं। ऐसा करने वाले चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं।'[३]

गुटबंदी राजनीति का चक्र है। इसमें फंसने वाला साधक अपनी साधना को जीर्ण-शीर्ण कर देता है।

---

१. लिखित, १८५९

२. लिखित, १८५०

३. वही, १८४५

अपमान उसी के लिए है, जिसके चित्त का विक्षेप होता है। जिसके चित्त का विक्षेप नहीं होता, उसके लिए अपमान जैसी कोई वस्तु है ही नहीं–

अपमानादयस्तस्य, विक्षेपो यस्य चेतसः॥
नापमानादयस्तस्य, न क्षेपो यस्य चेतसः॥

जिसने चित्त का विक्षेप नहीं छोड़ा, वह कैसा है साधक और कैसी है उसकी साधना?

मन-मुटाव का प्रमुख कारण है स्वार्थ की क्षति। जो स्वार्थ में लिप्त होता है, वह निर्लेप नहीं बन सकता। आचार्य के अनुग्रह का महत्त्व यही है कि उससे साधु को साधना में सहयोग मिले। यदि उसे किसी स्वार्थ की पूर्ति में लगाए तो वह अनुग्रह कोई विशेष मूल्य नहीं रखता। आचार्य का पर्याप्त अनुग्रह न हो, उससे खिन्न होकर गण में भेद डालने का यत्न करता है, उसने साधना का मर्म नहीं समझा। गुटबंदी का अर्थ है–साधना की अपरिपक्वता। आचार्य भिक्षु ने गुटबंदी को साधना के लिए सद्योघाती आतंक कहा है।

19. क्या माना जाए?

साधु-समुदाय के लिए कुल, गण और संघ–ये तीन शब्द व्यवहृत होते हैं। कुल से गण और गण से संघ व्यापक है। एक आचार्य के शिष्य-समूह को कुल, दो आचार्यों के सहवर्ती शिष्य-समूह को गण और अनेक आचार्यों के सहवर्ती शिष्य-समूह को संघ कहा जाता है।

तेरापंथ साधु-समूह के लिए प्रायः गण शब्द का प्रयोग होता है। कुछ लोग साथ में रहते हैं, इतने मात्र से उनका गण नहीं होता। गण तब होता है जब वे एक व्यवस्था-सूत्र में आबद्ध होकर रहें। गण का मूल आधार व्यवस्था है। जिस व्यवस्था में जो रहे, वह उस गण का सदस्य होता है और उस व्यवस्था से अलग होने पर वह उसका सदस्य नहीं होता। आचार्य भिक्षु ने कहा–'जो कोई साधु गण से अलग हो जाए, उसे साधु न माना जाए, चार तीर्थ में उसकी गिनती न की जाए। उसे वंदना करना जिनाज्ञा के प्रतिकूल है।[१]

चारित्र को निभाने की अक्षमता, स्वभाव की अयोग्यता, मनभेद और मतभेद आदि-आदि गण से पृथक् होने या करने के कारण हैं। जो मतभेद के कारण गण से अलग होते हैं, उनको लेकर यह तर्क आता है कि उन्हें साधु क्यों नहीं माना जाए? एक व्यक्ति बीस वर्ष तक गण में रहे तब तक वह साधु और

१. लिखित, १८३२

गण से अलग होते ही वह साधु नहीं– यह कैसे हो सकता है? तर्क अकारण नहीं है, क्योंकि साधुत्व कोई लोह नहीं है, जो गणरूपी लोहचुंबक से चिपटा रहे और उसे छोड़ बाहर न जा सके। वह मुक्त-हृदय की उन्मुक्त साधना है, किंतु आचार्य भिक्षु ने जो कहा, वह एक अपेक्षा से कहा है। आगम का प्रत्येक वचन अपेक्षा से युक्त होता है तब आचार्य भिक्षु का वचन अपेक्षा से मुक्त कैसे होगा? गण से पृथक् हुए साधु को साधु न माना जाए, यह यथार्थ दृष्टिकोण है। जो साधु पहले तेरापंथ गण का साधु था, वह गण से पृथक् होने के पश्चात् उस गण का कैसे होगा? जो गण में हों, वे भी गण के साधु और जो पृथक् हो जाएं, वे भी गण के साधु माने जाएं तो फिर गण में रहने या उससे पृथक् होने का अर्थ ही क्या हो? गण का साधु वही है, जो गण की व्यवस्था का पालन करे। उसका पालन न करे, वह गण का साधु नहीं है। इसलिए आचार्य भिक्षु ने लिखा–'उसे चार तीर्थ में न गिना जाए।'

वह वास्तव में क्या है? इस चर्चा में हम क्यों जाएं? दूसरे भी हजारों साधु हैं, वैसे ही वह है। गण की व्यवस्था में जिसे विश्वास है, वह साधु उसे गण का साधु न माने, इस मर्यादा का यही आशय है।

20. दोष-परिमार्जन

जो चलता है, वह स्खलित भी हो जाता है। स्खलित होना बड़ी बात नहीं है, बड़ी बात है चलना। व्यवस्था इसलिए होती है कि व्यक्ति चले और स्खलित न हो। अकेला व्यक्ति चलता है या स्खलित होता है, उसका उत्तरदायी वह स्वयं होता है। समुदाय में कोई चलता है या स्खलित होता है, उसका उत्तरदायित्व समुदाय पर होता है। साधना के क्षेत्र में व्यक्ति समुदाय में रहते हुए भी अकेला होता है, इसलिए उसका दायित्व भी स्वयं पर अधिक होता है, किंतु समुदाय में रहने वाला अकेला ही नहीं होता, इसलिए उसका दायित्व समुदाय पर भी होता है। समुदाय में कोई दोष-सेवन करे, उसे कोई दूसरा देखे, उस समय देखने वाले का क्या कर्तव्य है? यह विमर्श-योग्य विषय है।

एक बार भाई किशोरलाल घनश्यामदास मश्रूवाला से पूछा गया– गांधीजी की आपको सबसे बड़ी देन क्या है? इसका जवाब भाई मश्रूवाला ने इस प्रकार दिया–

'गांधी जी हमें कहते थे कि अगर किसी आदमी के खिलाफ तुम्हारे मन में कोई बात उठी हो तो उसके बारे में उसी आदमी के साथ बात कर लेनी चाहिए। हम हिन्दुस्तानियों में यह हिम्मत कम है। यदि हमें किसी व्यक्ति पर संदेह हुआ

या उसके प्रति असंतोष हुआ तो उसकी शिकायत या निंदा हम दूसरों के सामने करते हैं, मगर खुद उसके सामने बात नहीं निकालते बल्कि उसे तो हम ऐसा भी दिखा देते हैं, मानो उसके खिलाफ हमारे दिल में कुछ है ही नहीं। अपने दिल को छिपाकर बोलने की आदत हमने बना ली है। हमारा ऐसा भी खयाल है कि यह आदत सभ्यता, तहजीब की निशानी है या विवेक है, लेकिन वस्तुतः यह विवेक नहीं, चरित्र की कमजोरी है।'

इस पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं–

'गांधीजी की यह सलाह ईशु के एक उपदेश की याद दिलाती है। अपने एक उपदेश में ईशु ने अपने शिष्यों से कहा–'तुम मंदिर में पूजा करने जाओ और पूजा करते-करते तुम्हें याद आए कि तुम्हारे मन में किसी भाई के प्रति बुराई आई है तो अपनी पूजा अधूरी छोड़कर पहले उसके पास जाओ, खुलासा करो और बाद में आकर अपनी पूजा पूरी करो। पूज्य बापू की इस सलाह पर चलने का मैंने प्रयत्न किया है। परिणाम बहुत अच्छे आए हैं। बात करने के समय अपने जोश को रोककर शांत वाणी से बोलने का आत्म-संयम यदि मुझमें हो तो परिणाम और भी अच्छे आ सकते हैं। आत्म-संयम की कमी जोश पर काबू पाने में अड़चन पैदा करती है, फिर भी मेरा अनुभव ऐसा है कि जिसके विषय में आशंका उठी हो, उसके साथ सीधी और साफ बात कर लेने से और उसके लिए अपने मन में सच्ची भावना प्रकट कर लेने से–यदि उस क्षण उसे बुरा लगे तो भी गलतफहमी, दंभ और चुगलखोरी फैलने नहीं पाती। 'क' की बात 'क' को कह देने से दूसरों के सामने कहने की वृत्ति कमजोर हो जाती है।'

भाई मश्रूवाला ने उपर्युक्त उद्‌गारों में महात्माजी के जिस जीवन-सूत्र की चर्चा की है, वह बहुत ही मूल्यवान है।

आचार्य भिक्षु ने साधुओं और श्रावकों को यही शिक्षा दी थी। निंदा और विषमवाद को मिटाने के लिए उन्होंने लिखा–कोई व्यक्ति किसी साधु-साध्वी में दोष देखे, तो तत्काल उसी को कह दे अथवा गुरु को कह दे, पर दूसरों को न कहे।'[१]

दो दृष्टिकोण होते हैं–एक सुधारने का और दूसरा अपमानित करने का। जिसने दोष किया हो, उसे या गुरु को कहा जाए, यह सुधारने का दृष्टिकोण है। उसे न कहकर दूसरे लोगों को कहा जाए, यह किसी को अपमानित करने का दृष्टिकोण है। दूसरों को अपमानित कर स्वयं आगे आने की जो भावना है, वह

१. लिखित, १८५०

दोषपूर्ण पद्धति है। इसमें एक दूसरे को दोषी ठहराकर गिराने की परिपाटी हो जाती है। जिस संस्था या सभा के सदस्यों में एक-दूसरे को नीचा दिखाने की भावना या प्रवृत्ति नहीं होती, केवल एक-दूसरे को शुद्ध रखने के लिए ही दोषी को उसके दोष की ओर ध्यान दिलाने की कर्तव्य-भावना होती है, उस संस्था या समाज का चरित्र, प्रेम और संगठन सुदृढ़ होता है।

दोष थोपना भी पाप है, उसका प्रचार करना भी पाप है और उसकी उपेक्षा करना भी पाप है। सत्पुरुष का कर्तव्य यह है कि वह कोरी संदेह-भावना से किसी को दोषी न ठहराए। दोष देखे तो उसे या गुरु को जताए, अन्यत्र उसका प्रचार न करे।

इस विषय में दो महत्त्वपूर्ण बातें ये हैं–1. दोष देखे तो तत्काल कह दे। तत्काल का अर्थ उसी समय नहीं है, किंतु लंबे समय तक दोष को छिपाकर न रखे। 2. दोषों को इकट्ठा न करे।

आचार्य भिक्षु ने कहा–'बहुत दिनों के बाद कोई किसी में दोष बताए तो प्रायश्चित्त का भागी वही है, जो दोष बताता है। जिसने दोष किया है, उसे याद हो तो उसे प्रायश्चित्त करना ही चाहिए।'[१]

बहुत दिनों के बाद जो दोष बताए, उसकी बात कैसे मानी जाए? उसकी बात में सचाई हो तो ज्ञानी जाने, परंतु व्यवहार में उसका विश्वास नहीं होता।[२]

जो दोषों को इकट्ठा करता है, वह अन्यायवादी है।[३] जब आपस में प्रेम होता है तब तो उसके दोषों को छिपाता है और प्रेम टूटने पर दोषों की गठरी खोल फेंकता है, उस व्यक्ति का विश्वास कैसे हो? यह विपरीत बुद्धि है।[४]

दोष बताने वाला ही दोषी नहीं है, उसे सुनने वाला भी दोषी है। सुनने वालों का कर्तव्य क्या होना चाहिए? इसे भी आचार्य भिक्षु ने स्पष्ट किया है–'कोई गृहस्थ साधु-साध्वियों के स्वभाव या दोष के संबंध में कुछ बताए

---

१. लिखित, १८५०

२. (क) आचार री चौपई, १५.८ :

घणा दिना रा दोष बतावे, ते तो मानवा में किम आवे।
साच झूठ तो केवली जाणे, छदमस्थ प्रतीत न आणे॥

(ख) लिखित, १८५०

३. लिखित, १८५०

४. आचार री चौपई, १५.९ :

हेत मांहि तो दोषण ढांके, हेत टूटां कहतो नहिं सांके।
तिणरी किम आवे परतीत, उणनें जाण लेणो विपरीत॥

तो श्रोता उसे यह कहे कि मुझे क्यों कहते हो या तो उसी को कहो या गुरु को कहो, जिससे प्रायश्चित्त देकर उसे शुद्ध करें। गुरु को नहीं कहोगे तो तुम भी दोष के भागी हो, तुममें भी वक्रता है। मुझे कहने का अर्थ क्या होगा? यह कहकर उस झमेले से अलग हो जाए, उस पंचायत में न फंसे।'[१] दोष के प्रकरण को लेकर आचार्य भिक्षु ने एक पूरा 'लिखत' लिखा। उसका सारांश इस प्रकार है–

1. साधु परस्पर साथ में रहे, उस स्थिति में किसी से कोई दोष हुआ हो तो उसे अवसर देखकर शीघ्र ही जता दे, पर दोषों का संग्रह न करे।

2. जिसने दोष किया हो, वह प्रायश्चित्त करे तो भी गुरु को जता दे।

3. वह प्रायश्चित्त न करे तो दोष को पन्ने पर लिख उससे स्वीकृत करा, उसे सौंप दे और कह दे कि इसका प्रायश्चित्त कर लेना। इसका प्रायश्चित्त न आए तो भी गुरु को कह देना। इसे टालना मत। यदि तुमने नहीं कहा तो मुझे कहना होगा। मैं दोषों को दबाकर नहीं रखूंगा। जिस दोष के बारे में मुझे संदेह है, उसे मैं संदेह की भाषा में कहूंगा और जिसे निःसंदेह जानता हूं, उसे असंदिग्ध रूप से कहूंगा। अब भी तुम संभलकर चलो।

4. आवश्यकता हो तो उसी के सामने गृहस्थ को जताए।

5. शेष-काल हो तो गृहस्थ को न कहे। जहां आचार्य हों, वहां आ जाए।

6. गुरु के समीप आकर समस्या खड़ी न करे।

7. गुरु किसे सच्चा ठहराए और किसे झूठा ठहराए? लक्षणों से किसी को सच्चा जाने और किसी को झूठा, परंतु निश्चय कैसे हो सकता है?

8. आलोचना किए बिना वे प्रायश्चित्त कैसे दें? उन्हें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखकर न्याय तो करना ही है।

9. दोष बताने वाला सावधान रहे। वह दोषों का संग्रह न करे। जो बहुत दोषों को एकत्रित कर आएगा, वह झूठा प्रामाणित होगा। वास्तव में क्या है? वह तो सर्वज्ञ जाने, पर व्यवहार में दोषी वह है, जो दोषों का संग्रह करता है।[२] जिसके बारे में मन शंकाओं से भरा हो, उससे सीधा संपर्क स्थापित कर ले, यह मन का समाधान पाने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त ये सूत्र भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं–

---

१. लिखित, १८५०

२. लिखित, १८४१

1. किसी में कोई दोष देखो तो उसे एकांत में जताओ।

2. गुरु या मुख्य व्यक्ति को भी जताओ।

3. उसे शुद्ध करने की दृष्टि से जताओ, द्वेषवश दोष मत बताओ।

4. अवसर देखकर तत्काल जताओ।

5. बहुत दिनों के बाद दोष मत बताओ।

6. दोषों को इकट्ठा करके मत रखो।

7. दोषों को छिपाओ मत।

8. दोषों का प्रचार मत करो।

9. दोष बताने में हिचक मत करो।

अहिंसा की अभय-वृत्ति पर विश्वास करते हुए आचार्य भिक्षु ने लिखा है–'गुरु, शिष्य अथवा गुरु–भाई किसी में भी दोष देखे तो उसे जता दे। किसी से भी संकोच न करे। दोष की शुद्धि का प्रयत्न करे। जो शिष्य गुरु का दोष छिपाता है, गुरु के सम्मुख कहने में संकोच करता है, वह बहुत ही भ्रम में है, उसने व्यर्थ ही घर छोड़ा है।'[२]

21. विहार

तेरापंथ आचार्य-केन्द्रित गण है। इसके सदस्यों में एक आचार्य होते हैं और शेष सब शिष्य। आचार्य संयम से अनुशासित होते हैं और शिष्य–वर्ग संयम और आचार्य के अनुशासन से अनुशासित होता है। अनुशासन की पृष्ठभूमि में सत्ता का बल नहीं है, किंतु प्रेम और वात्सल्य है। शिष्यों का विनय और आचार्य का वात्सल्य–दोनों मिलकर अनुशासन को संचालित करते हैं। कुछ आधुनिक सुधारक हमारी प्रणाली को सामंतशाही प्रणाली कहने में गर्व अनुभव करते हैं, इसमें उनका दोष भी नहीं है।

श्रद्धा का स्पर्श जो न कर सकें, उनके लिए सब जगह सामंतशाही है। तर्क सदा संग्रह की परिक्रमा करता है। श्रद्धा में समर्पण होता है। श्रद्धालु के लिए श्रद्धा सुधा होती है और श्रद्धेय के लिए विष। श्रद्धेय वही होता है, जो उस विष को पचा सके। श्रद्धालु श्रद्धा करना जानता है, पर कैसे टिके, यह नहीं जानता। यह श्रद्धेय को जानना होता है कि वह कैसे टिके?

---

२. आचार री चौपई, १५.३

गुर चेला ने गुर भाइ मांई, दोष देखे तो देणो बताई।
त्यांसूं पिण करणो नहीं टालो, तिणरो काढणो तुरत निकालो॥

यह श्रद्धा का ही चमत्कार है कि आचार्य आदेश देते जाते हैं और साधु-साध्वियां खड़े होकर उसे स्वीकार करते जाते हैं। माघ शुक्ला सप्तमी का दिन, जो मर्यादा-महोत्सव का दिन है, बड़ा कुतूहल का दिन होता है। उस दिन साधु-साध्वियों के विहार-क्षेत्र का निर्णय होता है। किस साधु-साध्वी को आगामी वर्ष कहां जाना है, कहां रहना है, कहां चतुर्मास बिताना है? यह प्रश्न तब तक उनके लिए भी प्रश्न होता है, जब तक आचार्य उनके विहार-क्षेत्र की घोषणा नहीं करते हैं। जब आचार्य साधु-साध्वियों को विहार का आदेश देते हैं और वे सम्मान के साथ उसे स्वीकार करते हैं तब दर्शक उस दृश्य को देख आनंद विभोर हो जाते हैं।

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि छोटे-छोटे गांव खाली हैं और बड़े-बड़े शहर साधुओं से भरे हैं। साधुओं की दृष्टि उपकार से हटकर सुविधा पर टिक रही है। उन्होंने व्यवस्था की–'सब साधु-साध्वियां विहार, शेषकाल या चातुर्मास भारीमलजी (वर्तमान आचार्य) की आज्ञा से करें, आज्ञा के बिना कहीं न रहें।'[१]

उन्होंने कहा–'सुख-सुविधा वाले क्षेत्रों की ममता कर बहुत जीव चारित्र से भ्रष्ट हुए हैं।'[२] इसलिए 'सरस आहार मिले वहां भी आज्ञा के बिना न रहे।'[३] कुछ साधु क्या करते हैं–रूखे क्षेत्र में उपकार होता है तो भी वहां नहीं रहते। अच्छे क्षेत्र में उपकार नहीं होता है तो भी पड़े रहते हैं, ऐसा नहीं करना है। चातुर्मास अवसर हो तो किया जाए, पर शेष-काल में तो रहना ही चाहिए। दो साधु विहार करें, बड़े-बड़े, सुख-सुविधाकारी क्षेत्रों में लोलुपतावश घूमते रहें, आचार्य जहां रखें, वहां न रहें, यह अनुचित है। जहां बहुत साथ रहें, वहां दुःख माने और दो में सुख माने, लोलुपतावश यह नहीं करना चाहिए।'[४] ग्राम और नगर की जो समस्या आज है, उसका अंकन उन्होंने उस समय ही कर लिया था। गांवों की अपेक्षा शहरों में आकर्षण-शक्ति अधिक होती है। पदार्थों की साज-सज्जा जितनी शहरों में होती है, उतनी गांवों में नहीं होती। धार्मिक उपकार जितना गांवों में होता है, उतना शहरों में नहीं होता। महात्मा गांधी ने भी गांवों पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की थी। राजनीतिक संस्थाएं भी बार-बार ग्राम-संपर्क के लिए पदयात्रा की व्यवस्था करती है।

आचार्य भिक्षु का ग्राम विहार का सूत्र हमारे आचार्यों ने क्रियान्वित किया है। साधु-साध्वियों को विहार-क्षेत्र का जो पत्र सौंपा जाता है, उसमें चातुर्मास

१. लिखित, १८५९
२. वही, १८५९
३. वही, १८५०
४. लिखित, १८५०

के लिए एक क्षेत्र निश्चित होता है और उसमें उसके आसपास के गांवों के नाम भी लिखे होते हैं। उस क्षेत्र में चातुर्मास करने वाला साधु उसके समीपवर्ती गांवों में जाता है, रहता है और कहां कितनी रात रहा, उसकी तालिका आचार्य से मिलने पर उन्हें निवेदित करता है।

आचार्य भिक्षु ने गांवों में विहार करने की ओर गण का ध्यान खींचकर साधु-संघ पर बहुत उपकार किया है।

विहार के संबंध में उन्होंने दूसरी बात यह कही–'आचार्य की आज्ञा या विशेष स्थिति के बिना साधु-साध्वियां एक क्षेत्र में विहार न करें।'[१]

जिस गांव में पहले साध्वियां हों वहां साधु न जाएं और जहां साधु हों वहां साध्वियां न जाएं। पहले पता न हो और वहां चले जाएं तो एक रात से अधिक न रहें–कारणवश रहना पड़े तो भिक्षा के घरों को बांट लें।[२]

इस व्यवस्था के अनुसार जहां आचार्य हो अथवा उनकी आज्ञा हो, वहां एक गांव में साधु-साध्वियां दोनों रहते हैं, उसके सिवाय एक गांव में साधु-साध्वियां दोनों नहीं रहते।

आचार्य भिक्षु ने गण की व्यवस्था में भगवान महावीर के आठ सूत्रों को क्रियान्वित किया। भगवान ने कहा था– इन आठ स्थानों में भली-भांति सावधान रहो, प्रयत्न करो, प्रमाद मत करो। वे ये हैं–

1. अश्रुत धर्मों को सुनने के लिए प्रयत्नशील रहो।
2. श्रुत धर्मों का ग्रहण और निश्चय करने के लिए प्रयत्नशील रहो।
3. संयम के द्वारा पापकर्म न करने के लिए प्रयत्नशील रहो।
4. तपस्या के द्वारा पुराने पापकर्मों को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील रहो।
5. अनाश्रित शिष्य-वर्ग को आश्रय देने के लिए प्रयत्नशील रहो।
6. नवदीक्षित साधु को आचार-गोचर सिखाने के लिए प्रयत्नशील रहो।
7. ग्लान की अग्लान भाव से सेवा करने के लिए प्रयत्नशील रहो।
8. साधर्मिकों में कोई कलह उत्पन्न होने पर आहार और शिष्यों के प्रलोभन से दूर, पक्षपात से दूर, तटस्थ चिंतन के लिए कि मेरे साधर्मिक कलह मुक्त कैसे हों? प्रयत्नशील रहो। उस कलह को उपशांत करने के लिए प्रयत्नशील रहो।

---

१. लिखित, १८५०

२. वही, १८४०, १८५२

7. अनुभूतियों के महान स्रोत

आचार्य भिक्षु चिंतन के सतत प्रवहमान स्रोत थे। उनसे अनेक धाराएं प्रस्फुटित हुई हैं। हम किसी एक धारा को पकड़कर उसके स्रोत को सीमित नहीं बना सकते। उनके एक में सब और सब में एक है। अनुभूति की धारा से सब धाराएं निकली हैं और सब धाराओं में अनुभूति का उत्कर्ष है। उनकी अनुभूति में शाश्वत सत्यों और युग के भूत, भावी और वर्तमान के तथ्यों का प्रतिबिंब है।

1. कथनी और, करनी और

कथनी और करनी का भेद जो होता है, यह नई समस्या नहीं है। यह मानव-स्वभाव की दुर्बलता है, जो सदा से चली आ रही है। इस ध्रुव सत्य को आचार्य भिक्षु ने इन शब्दों में गाया है–

जो स्वयं आचरण नहीं करते,
अज्ञानी बने हुए चिल्लपों मारते हैं,
वे गायों के समूह में,
गधे की भांति रेंकते हैं।

2. भेद का भुलावा

जीवन के बनने-बिगड़ने में तीन वर्गों का प्रमुख हाथ होता है–माता-पिता, मित्र और गुरु। इनमें सर्वोपरि प्रभावशाली व्यक्ति गुरु होते हैं। गुरु कलाचार्य को भी कहा जाता है और धर्माचार्य को भी। गुरु का भावात्मक अर्थ है–शिक्षा का स्रोत। वह पवित्र होता है, व्यक्ति को पावन प्रेरणाएं मिलती हैं। वह अपवित्र होता है, व्यक्ति को अपवित्र प्रेरणाएं मिलती हैं। जो धर्म-गुरु का वेश पहने हुए होता है और कर्तव्य में कुगुरु होता है, उनके संपर्क-जनित परिणामों को इन शब्दों में गूंथा है–

कुएं पर जाजिम बिछी है,
चारों कोनों पर भार रखा हुआ है,

कोई भुलावे में आ, उस पर बैठ जाए, उसकी क्या गति होती है?
वह कुएं में डूब जाता है।
कुगुरु कुएं के समान है,
जाजिम के समान उसका वेश है।
जो वेश के भुलावे में आ जाता है,
वह उसकी कुशिक्षाओं में डूब जाता है।
कुगुरु भड़भूंजे के समान है,
उसकी मान्यता भाड़ के समान है॥
अज्ञानी जीव घास-फूस के समान है,
कुगुरु उन्हें मिथ्या विश्वासों के भाड़ में झोंकते हैं।[१]

3. बहुमत नहीं, पवित्र श्रद्धा चाहिए

जन साधारण में बहुमत का अनुकरण करने की परंपरा रही है। सत्य के अन्वेषकों ने इस पर सदा प्रहार किया है। 'मैं तो सबके साथ होऊंगा' यह बाल चिंतन है।[२] आचार्य भिक्षु की उक्ति है–

बहुमत के भरोसे कोई न रहे।
निर्णय करो, परखो।
लोक भाषा में भी कहा जाता है–
'घी खाओ, घृत-पात्र नहीं।'
थोड़ी या अधिक संख्या में नहीं।
आत्म-कल्याण साधना में है।
समाधान उन्हें मिलता है,

---

१. आचार री चौपई, १०, ६-८
जाजम विछाइ कूवा उपरें, चिहूं कांनी रे मेल्यों उपर भार।
भोलो वेंसे तिण उपरें, ते डूब मरें रे तिण कूवा मझार॥
तिम कुगुर छें कूवा सारिषा, जाजम सम रे कनें साध रो भेष।
त्यांने गुर लेखव वंदणा करें, ते डूबें रे मूरख अंध अदेख रे॥
कुगुर भडभूंजा सारिषा, त्यांरी सरधा हो खोटी भाड समांण।
भारीकरमां जीव चिणा सारिषा, त्यांने झोखे हो खोटी सरधा में आंण॥

२. उत्तराध्ययन, ५,७

जिनके हृदय में पवित्र श्रद्धा होती है।[1]

4. अनुशासन और संयमी

तमिल भाषा के कवि मुन्सरै मरुदनाट ने कहा–'यदि किसी मनुष्य के पास अपार धन-संपत्ति हो, पर उसमें सच्चा संयम न हो, ऐसे व्यक्ति को अधिकार देना बंदर के हाथ में मशाल देने के बराबर है।[2]

मशाल न मुझे और न दूसरों को जलाए–यह तभी हो सकता है, जब वह योग्य व्यक्ति के हाथ में हो। संयमहीन भी और साधु भी, ये दोनों विरोधी दिशाएं हैं–

अंकुश के बिना जैसे हाथी चलता है,
लगाम के बिना जैसे घोड़ा चलता है,
वैसे ही संयम के बिना कुगुरु चलता है,
वह केवल कहने के लिए साधु है।[3]

5. श्रद्धा दुर्लभ है

भगवान महावीर ने कहा–श्रद्धा दुर्लभ है। स्वामीजी ने इसे अपने हृदय की अनुभूति के रंग में रंगकर नया सौंदर्य प्रदान किया है–

यह जीव अनंत जीवों को सिद्धांत पढ़ा चुका है,
अनंत जीवों से सिद्धांत पढ़ चुका है।
यह जीव सब जीवों का गुरु बन चुका है,
यह जीव सब जीवों का शिष्य बन चुका है,
पर सम्यक् श्रद्धा के बिना भ्रांति नहीं मिटी।

---

१. निन्हव री चौपई, ४, २७-२८
घणां रे भरोसें कोइ रहिजो मती रे,
सरधा नें चलगति मींढी जोय रे,
लोक भाषा मांहि पिण इम कहे रे,
घी खाधों पिण कुलडो न गयों कोय रे,
कोइ साधां म्हासूं निकल भागल हुवें रे,
केइ भागल छोडें नें हुवें छें साध रे।
बले थोडा घणां रो कारण को नहीं रे,
सुध करणी सूं पांमे सदा समाध रे।

२. तमिल साहित्य और संस्कृति, पृ. ८६

३. आचार री चौपई, १.३५

बीज के बिना हल चलता है,
पर खेत खाली रह जाता है।
वैसे ही शून्य चित्त से पढ़ने वाला परमार्थ को नहीं पाता।[1]

जो परमार्थ को नहीं पाता, वह प्रतिबिंब को पकड़ बैठ जाता है। उसे मूल नहीं मिलता–

लाखों कुंड जल से भरे हैं,
उनमें चन्द्रमा का प्रतिबिंब है,
मूर्ख सोचता है चन्द्रमा को पकड़ लूं,
परंतु चन्द्रमा आकाश में रहता है।
प्रतिबिंब को चन्द्रमा मानता है,
वह बुद्धि से विकल है।
वैसे ही बाह्याचार को जो मूल मानता है,
वह अज्ञान-तिमिर में डूबा हुआ है।[2]

6. जैन-धर्म की वर्तमान दशा का चित्र

भगवान महावीर के निर्वाण पर घोर अंधकार छा गया है,
जिन-धर्म आज भी अस्तित्व में है,
पर जुगनू के चमत्कार जैसा,
जैसे जुगनू का प्रकाश क्षण में होता है,
क्षण में मिट जाता है,
साधुओं की पूजा अल्प होती है,
असाधु पूजे जा रहे हैं।

---

१. निन्हव री चौपई, ४.१३
सिधंत भणायों अनन्ता जीव नें रे, अनन्ता आगें भणीयों सिंधते रे।
गुर नें चेलों हूओं सर्व जीवनों रे, साची सरधा विन न मिटी अंत रे॥
कोइ भणें भणावें करवा नांम नां रे, केइ प्रसंसा मांन वडाइ हेत रे।
सूंनें चित परमार्थ पायो नहीं रे, ए बीज विण रहि गयो खाली खेत रे॥

२. वही, ४.२३-२४
कुंडा भरीया जल सूं लाखां गमे रे, चंद्रमा रों सगले छें प्रतिबिंब रे।
मूर्ख जांणें गिरलूं चंद्रमा रे, पिण ते तों आकासें अंतर लंब रे॥
प्रतिबिंब नें जे कोइ मांनें चंद्रमा रे, ते तों कहिजें विकल समांन रे।
ज्यूं गुण विण सरधें साधु भेष नें रे ते खूता मिथ्याती पूर अग्यांन रे॥

यह सूर्य कभी उग रहा है,
कभी अस्त हो रहा है।
भेख-धारी बढ़ रहे हैं,
वे परस्पर कलह करते हैं।
उन्हें कोई उपदेश दे तो
वे क्रोध कर लड़ने को प्रस्तुत हो जाते हैं।
वे शिष्य–शिष्याओं के लालची हैं।
संप्रदाय चलाने के अर्थी।
बुद्धि-विकल व्यक्तियों को मूंड इकट्ठा करते हैं।
गृहस्थों के पास से रुपये दिलाते हैं।
शिष्यों को खरीदने के लिए,
वे पूज्य की पदवी को लेंगे,
शासन के नायक बन बैठेंगे,
पर आचार में होंगे शिथिल,
वे नहीं करेंगे आत्म-साधन का कार्य।
गुणों के बिना आचार्य नाम धराएंगे,
उनका परिवार पेटू होगा,
वे इन्द्रियों का पोषण करने में रत रहेंगे,
सरस आहार के लिए भटकते रहेंगे।[१]
वैराग्य घटा है, वेश बढ़ा है,
हाथी का भार गधों पर लदा हुआ है,
गधे थक गए, बोझ नीचे डाल दिया,
इस काल में ऐसे भेखधारी हैं।[२]

उनका भगवान महावीर के प्रति आत्म-निवेदन भी बड़ा मार्मिक है–

भगवान आज यहां कोई सर्वज्ञ नहीं है
और श्रुतकेवली भी विच्छिन्न हो चुके।
आज कुबुद्धि कदाग्रहियों ने
जैन-धर्म को बांट दिया है।

---

१. आचार री चौपई, ३।६-१४

२. वही, ६.२८

छोड़ चुके हैं जैन-धर्म को
राजा, महाराजा सब।
प्रभो! जैन-धर्म आज विपदा में है,
केवलज्ञान-शून्य भेख बढ़ रहा है।
इन नामधारी साधुओं ने
पेट पूर्ति के लिए,
दूसरे दर्शनों की शरण ले ली है।
इन्हें कैसे फिर मार्ग पर लाया जाए?
इनकी विचारधारा का
कोई सिर-पैर नहीं है,
न्याय की बात कहने पर
ये कलह करने को तैयार हो जाते हैं।
प्रभो! तुमने कहा है–
सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप-
मुक्ति के मार्ग ये ही हैं।
मैं इनके सिवाय किसी को मुक्ति-मार्ग नहीं मानता।
मैं अरिहंत को देव,
और मानता हूं गुरु निर्गंथ को ही।
धर्म वही है सत्य सनातन,
जो कि अहिंसा कहा गया है।
शेष सब मेरे लिए भ्रम-जाल है।
मैं प्रभो! तुम्हारा शरणार्थी हूं,
मैं मानता हूं प्रमाण तुम्हारी आज्ञा को।
तुम्हीं हो आधार मेरे तो,
तुम्हारी आज्ञा में मुझे परम आनंद मिलता है।[1]

१. वीर सुणो मोरी वीनती री ढाल

7. आकाश कैसे संधे?

वे पवित्रता के अनन्य भक्त थे। उनका अभिमत था कि सब पवित्र हों। जहां मुखिया अपवित्र हो जाता है, वहां बड़ी कठिनाई होती है–

आकाश फट जाए,
उसे कौन सांधे?
गुरु सहित गण बिगड़ जाए।
उस संघ के छेदों को कौन रोके?[१]

8. क्रोध का आवेग

क्रोध के आवेश से परिपूर्ण मनोदशा में एक विचित्र प्रकार की उछल-कूद होती है। उसका वर्णन इन शब्दों में हैं–

क्रोध कर वे लड़ने लग जाते हैं,
इस प्रकार उछलते हैं
जैसे भाड़ में से चने उछलते हों।[२]

9. विनीत-अविनीत

विनीत और अविनीत की अनेक परिभाषाएं हैं। आचार्य भिक्षु ने परिभाषाओं के अतिरिक्त उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है। उसके कुछेक तथ्य ये हैं–

'एक साधु विनीत है और दूसरा अविनीत। विनीत अच्छा गाता है और जो अविनीत है, वह गाना नहीं जानता। गाने वाले की लोग सराहना करते हैं, तब वह मन में जलता है और लोगों को कहता है'–

वह गा-गाकर जनता को प्रसन्न करता है और मैं तत्त्व सिखाता हूं।[३]

---

१. आचार री चौपई, ६, दु. ४ :
आभे फाटे थीगरी, कुण छ देवणहार।
ज्यूं गुर सहीत विगडीयो, त्यांरे चिहुं दिस परिया बघार॥

२. आचार री चौपई, २१.३०
जो वरतां री चरचा करें त्यां आगें, तो क्रोध करें लडवा लागें।
जांणे भाड मा सूं चिणा उछलीया, कर्म जोगे गुर माठा मिलीया॥

३. विनीत अविनीत री चौपई, १.२२-२३ :
कोइ उपगारी कंठ कला धर साधु री रे, प्रशंसा जश कीरति बोलें लोग रे।
अविनीत अभिमांनी सुण सुण परजलें, उणरे हरष घटें ने वधें सोग रे॥
जो कंठ कला न हुवे अविनीत री रे, तो लोकां आगें बोलें विपरीत रे।
यां गाय गाय रीझाया लोक नें रे, कहे हूं तत्त्व ओलखाउं रूडी रीत रे॥

वह गुरु का गुणानुवाद सुनकर भी प्रसन्न नहीं होता। गुरु का अवगुण सुनता है तो वह खिल उठता है।[१]

वह गुरु की बराबरी करता है। सड़ा हुआ पान जैसे दूसरे पानों को बिगाड़ देता है, वैसे ही अविनीत व्यक्ति दूसरों में सड़ान पैदा कर देता है।[२]

अविनीत को जब गण में रहने की आशा नहीं होती, तब वह डाकौत की भांति बोलता है। डाकौत जैसे गर्भवती स्त्री को कहता है–तुम्हारे सुंदर बेटा होगा और पड़ोसिन को कह जाता है–इसके बेटी होगी और वह भी अत्यंत कुरूप। इसी प्रकार गुरु के भक्त-शिष्यों के सामने वह गुरु की प्रशंसा करता है। जिसे अपने अधीन हुआ जानता है, उसके सामने गुरु की निंदा करता है।[३]

जो दूसरे की विशेषता को अपनी विशेषता की ओट में छिपाने का प्रयत्न करता है और जो गुण सुनकर अप्रसन्न और निंदा सुनकर प्रसन्न होता है, वह व्यक्ति-विशेष को महत्त्व देता है, गुण को नहीं। जो गुण की पूजा करना नहीं जानता, वह बहुत पढ़कर भी शायद कुछ भी नहीं जानता, इसलिए उसे अविनीत ही नहीं, अज्ञानी भी कहा जा सकता है। जो बड़ों का सम्मान नहीं करता और दूसरों को उभारकर विद्रोहपूर्ण भावना फैलाने में ही रस लेता है, उसे क्या पता कि साधना में क्या रस होता है? वह अविनीत ही नहीं, नीरस भी है। उसने साधना का स्वाद चखा ही नहीं।

जो मुख के सामने कुछ कहता है,

तथा पीठ पीछे कुछ और।

वह विष का घड़ा है, ढक्कन अमृत का लगा हुआ है।

वह अविनीत ही क्या है, जीता-जागता विश्वासघात है।

अविनीत को अविनीत का संयोग मिलता है।

---

१. विनीत अविनीत री चौपई, १.२५
ओ गुर रा पिण गुण सुण ने विलखो हुवे रे, ओगुण सुणे तो हरसत थाय रे।
एहवा अभिमांनी अविनीत तेहनें रे, ओलखाऊं भव जीवां ने इण न्याय रे॥

२. वही, १.२८
वले करें अभिमांनी गुर सूं बरोबरी रे, तिणरे प्रबल अविनों नें अभिमांन रे।
ओ जद तद टोलां में आछो नहीं रे, ज्यूं विगड्यो विगाडे सडियो पांन रे॥

३. विनीत अविनीत री चौपई, २, दु. ३
गुर भगता श्रावक श्रावका कनें, गुर रा गुण बोलें तांम।
आपो वश हुवो जांणें तिण कनें, ओगुण बोलें तिण ठांम॥

तब वह वैसे ही प्रसन्न होता है।

जैसे डायन जरख को पाकर प्रसन्न होती है।[१]

अविनीत अपने संपर्क से विनीत को भी अविनीत बना देता है। जैसे–

एक व्यक्ति ने अपने बेटे का विवाह किया। दहेज में ससुराल वालों ने कई गधे दिए। उनमें एक गधा अविनीत था। वह जल-पात्र को गिराकर फोड़ देता। उसने हैरान होकर उसे छोड़ दिया। वह जंगल में स्वतंत्र रहने लगा। एक दिन वहां एक गाड़ीवान आया। वृक्ष की छांह में विश्राम के लिए उतरा। बैलों को एक पेड़ से बांध दिया और स्वयं रसोई पकाने लगा। गधा घूमता-फिरता उन बैलों के पास जा पहुंचा। वह बोला–देखो! मेरी बात मानो तो तुम इस भार ढोने के कष्ट से मुक्त हो सकते हो।

दो बैलों में एक मामा था और दूसरा भानजा। मामा बैल को उसकी बात रुचिकर लगी, किंतु भानजे ने फटकार लगाते हुए कहा–हम भार ढोते हैं, वह तुम देखते हो, हमारा स्वामी हमारी कितनी सेवा करता है, वह नहीं देखते। गधा बोला–आखिर हो तो परतंत्र ही न। भानजे ने कहा–हम स्वतंत्र होकर कर ही क्या सकते हैं? भानजे के समझाने के बाद भी मामा गधे के जाल में फंस गया। गाड़ी चली और मामा ने कुबुद्धि का प्रयोग शुरू किया। वह चलते-चलते गिर पड़ा, उठाया और फिर गिर पड़ा। जोर-जोर से सांस लेने लगा। गाड़ीवान ने सोचा–बैल मरने वाला है। उसने उसे मार गाड़ी में डाल दिया। अब एक बैल से गाड़ी कैसे चले? आस-पास गधा घूम रहा था, उसे पकड़ गाड़ी में जोत दिया। वे दोनों दुःखी हुए-बैल मारा गया और गधे को जुतना पड़ा। उसी प्रकार कुबुद्धि सिखानेवाला और सीखने वाला दोनों दुःखी होते हैं।[२]

---

१. विनीत अविनीत री चौपई, ५.२८

अविनीत नें अविनीत श्रावक मिले ए, ते पामें घणो मन हरख।
ज्यूं डाकण राजी हुवे ए, चढवा नें मिलियां जरख॥

१. विनीत अविनीत री चौपाई, २.१३-१५

बुटकनें गधेडे दुराचारी, तिण कीधी घणी खोटाई रे।
आप छांदे रह्यो उजाड में, एक बलद नें कुबद सीखाई रे॥
तिण अविनीत बलद ने तुरकियां, मार गाडा मे घाल्यो रे।
बुटकना ने आण जोतर्यो हिवें जाये उतावल सूं चाल्यो रे॥
ज्यूं अविनीत नें अविनीत मिल्यां, अविनीतपणो सिखावे रे।
पछें बुटकनां नें बलद ज्यूं, दोनूं जणा दुःख पावे रे॥

10. गिरगिट के रंग

व्यक्तित्व की पहली कसौटी है–सहिष्णुता। इसे पाए बिना कोई भी व्यक्ति मन का संतुलन नहीं रख पाता। जो परिस्थिति के बहाव में ही बहता है, थोड़े में प्रसन्न और थोड़े में अप्रसन्न हो जाता है, उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता। एक संस्कृत कवि ने कहा है–

जो क्षण में रुष्ट और क्षण में तुष्ट होता है, क्षण में तुष्ट और क्षण में रुष्ट होता है, इस प्रकार जिसका चित्त अनवस्थित है, उसकी प्रसन्नता भी डराने वाली होती है।[१] आचार्य भिक्षु ने ऐसे मनोभाव की तुलना सोरे से की है–

सोरा मुंह में डालने पर ठंडा लगता है,
अग्नि में डालने पर वह भभक जाता है।
क्षण में प्रसन्न और क्षण में अप्रसन्न होता है।
वह सोरे के समान है।
भोजन, जल, वस्त्र मिलने पर
जो कुत्ते की भांति पूंछ हिलाता है,
और उलाहना मिलने पर
जो संघ से अलग हो जाता है।
सोरा स्वयं जलता है, दूसरे को जलाता है,
फिर राख होकर उड़ जाता है।
वैसे ही अविनीत व्यक्ति
अपने और दूसरों के गुणों को राख कर डालता है।[२]

क्षण-क्षण में रुष्ट-तुष्ट होने का मनोभाव अच्छा नहीं है। उससे व्यक्ति को असंतोषपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता है, पर स्वभाव का परिवर्तन भी कोई सहज सरल नहीं है।

---

१. क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः, रुष्टस्तुष्टः क्षणे-क्षणे।
अनवस्थितचित्तानां, प्रसादोऽपि भयंकरः॥

२. विनीत अविनीत री चौपई, २.३१-३३
सोर ठंडो लागें मुख में घालियां, अग्नि मांहें घाल्यां हुवें तातो रे।
ज्यूं अविनीत ने सोर री ओपमां, सोर ज्यूं अलगो पडे जातो रे॥
आहार पांणी वस्त्रादिक आपियां, तो उ श्वान ज्यूं पूंछ हलावे रे।
करडो कह्यां उठे सोर अग्नि ज्यूं, गण छोडी एकल उठ जावे रे॥
सोर आप बले बालें ओर नें, पछे राख थइ उड जावे रे।
ज्यूं अविनीत आप ने परतणा, ग्यांनादिक गुण गमावें रे॥

किसी के हृदय को बदलने का साधन है समझाना, किंतु किसी का समझना समझाने वाले पर निर्भर नहीं है। समझाने और समझने वाले दोनों योग्य हों, तभी वह कार्य पूर्ण होता है अन्यथा नहीं। इस तथ्य को प्याज के उदाहरण से समझाया है–

प्याज को सौ बार जल से धोया,
पर उसकी गंध नहीं गई।
अविनीत को बार-बार उपदेश दिया,
पर उसका हृदय नहीं बदला।
प्याज की गंध धोने पर
कुछ मंद पड़ जाती है,
परंतु अविनीत को उपदेश
देने का फल नहीं होता।[१]

11. गुरु का प्रतिबिंब

एक व्यक्ति को विनीत शिक्षक मिलता है और दूसरे को अविनीत शिक्षक मिलता है। एक ने विनीत के पास सीखा और दूसरे ने अविनीत के पास, उन दोनों में कितना अंतर है? यह प्रश्न उपस्थित कर आचार्य ने स्वयं इसका समाधान किया है–

एक ने विनीत से बोध पाया
और एक ने पाया अविनीत से।
उनमें उतना ही अंतर है
जितना धूप और छांह में।[२]
जो विनीत के द्वारा प्रतिबुद्ध है
वह चावल-दाल की भांति सबसे घुल जाता है।

---

१. विनीत अविनीत री चौपई, ३.२९-३०
कांदा नें सो वार पांणी सूं धोवियां, तो ही न मिटें तिणरी वास हो।
ज्यूं अविनीत नें गुर उपदेश दीये घणो, पिण मूल न लागें पास हो॥
कांदा री तो वास धोयां मुधरी पड़ें, निरफल छें अविनीत नें उपदेश हो।
जो छोडवे तो अविनीत अंवलो पडे घणो, उणरे दिन-दिन इधक कलेश हो॥

२. वही, ५.१५
समझाया विनीत अविनीत रा ए, त्यांमे फेंर कितोयक होय।
ज्यूं तावडो नें छांहडी ए, इतरो अन्तर जोय॥

जो अविनीत के द्वारा प्रतिबुद्ध है
वह 'काचर' की भांति अलग रहता है।[१]

12. उत्तरदायित्व की अवहेलना

आचार्य भिक्षु संघ-व्यवस्था के महान प्रवर्तक थे। वे व्यवहार के क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग को बहुत महत्त्व देते थे। जो व्यक्ति स्वार्थी होते हैं, वे केवल लेना ही जानते हैं, देना नहीं और जो सामुदायिक उत्तरदायित्व की अवहेलना करते हैं, वे संघ की जड़ों को उखाड़ने जैसा प्रयत्न करते हैं। इसे एक कथा के द्वारा समझाया है–

किसी व्यक्ति ने चार याचकों को एक गाय दी।
वे क्रमशः एक-एक दिन उसे दुहते हैं,
पर उसे चारा कोई नहीं खिलाता।
वे सोचते हैं एक दिन नहीं खिलाएंगे तो क्या?
कल जिसे दूध लेना है, वह स्वयं खिलाएगा।
उनकी स्वार्थ-वृत्ति का फल यह हुआ
कि गाय मर गई।
रहस्य खुला तो लोगों ने धिक्कारा।
दूध भी अब कहां से मिले उन्हें?

इसी प्रकार जो संघ या आचार्य से बहुत लेना चाहते हैं, परंतु उनके प्रति अपना दायित्व नहीं निभाते, वे स्वयं नष्ट होते हैं और संघ को भी विनाश की ओर ढकेल देते है।[२]

---

१. विनीत अविनीत री चौपई, ५.१४
विनीत तणा समझाविया ए, साल दाल ज्यूं भेला होय जाय।
अविनीत रा समझाविया ए, ते कोकला ज्यूं कांनी थाय॥

२. विनीत अविनीत री चौपई, ४.११-१५
किण ही गाय दीधीं च्यार ब्राह्मणां भणी रे, ते वारे वारे दूहे ताय रे।
तिणनें चारे न नीरे लोभी थकां रे, म्हारे काले न दूजें आ गाय रे॥
त्यारें मांहोमां लागो इसको रे, तिण सूं दुखे दुखे मूइ गाय रे।
ते फिट फिट हुवा ब्राह्मण लोक में रे, ते दिष्टंत अविनीत नें ओलखाय रे॥
गाय सारिखा आचारज मोटकां रे, दूध सारिखो दे ग्यांन अमोल रे।
कुशिष्य मिल्या तो ब्राह्मण सारिखा रे, ते ग्यांन तो लेवें दिल खोल रे॥
आहार पांणी आदि वीयावच तणी रे, ए न करें सार संभाल रे।
एहवा अविनीतां रे वस गुर पड्या रे, त्यां पिण दुखे दुखे कीयों काल रे॥
ब्राह्मण तो फिट फिट हुवा घणां रे, ते तों एकण भव मझार रे।
तो गुर रा अविनीत रो कहिवो किसूं रे, तिणरो भव भव हुसी विगाड रे॥

जिस समाज, जाति और देश में निःस्वार्थभावी लोग होते हैं, उस समाज, जाति और देश का उत्कर्ष होता है। स्वार्थी लोग संगठन को अपकर्ष की ओर ले जाते हैं। स्वार्थी की दृष्टि स्वार्थ पर टिकती है, दायित्व उसकी ओट में छिप जाता है। स्वार्थ कोई बुरा नहीं है, परंतु संघ के हितों को गौण बनाकर जो प्रमुख बन जाए, वैसा स्वार्थ अवश्य ही बुरा है। आचार्य भिक्षु ने इसी तथ्य को उक्त पंक्तियों में अंकित किया है।

13. चौधराई में खींचतान

आचार्य भिक्षु की अनुभूति की धारा कहीं तटों की सीमा में प्रवाहित हुई है तो कहीं उन्मुक्त। तटों के मध्य में बहने वाली धारा का सुखद-स्पर्श हम कर चुके हैं। अब उन्मुक्त धारा में भी कुछ डुबकियां लगा लें।

एक खरगोश के पीछे दो बाघ दौड़े। वह भागकर एक खोह में घुस गया। वहां एक लोमड़ी बैठी थी। उसने पूछा– तू प्राणों को हथेली पर लिए कैसे दौड़ आया?

'बहन! जंगल के सभी जानवर मिलकर मुझे चौधरी बनाना चाहते थे। मैं इस पचड़े में पड़ना नहीं चाहता था। इसलिए बड़ी कठिनाई से उनके चंगुल से निकल आया हूं।' खरगोश ने अपनी भयपूर्ण भावना को छिपाते हुए कहा।

लोमड़ी–भैया! चौधराई में तो बड़ा स्वाद है।

खरगोश–बहन! यह पद तुम ले लो, मुझे तो नहीं चाहिए।

लोमड़ी का मन ललचाया और वह चौधराई का पद लेने खोह के बाहर निकली। वहां बाघ खड़े ही थे। उन्होंने उसके दोनों कान पकड़ लिए। वह कानों को गंवाकर, तुरंत लौट आई।

खरगोश–अभी वापस क्यों चली आई?

लोमड़ी–चौधराई में खींचतान बहुत है।[१]

यह सच है, चौधराई में खींचतान बहुत है, पर उसकी भूख किसको नहीं है? जनतंत्र के युग में वह और अधिक उभर जाती है, किंतु लोग इससे बोधपाठ लें। अपनी योग्यता को विकसित किए बिना चौधरी बनने का यत्न न करें।

14. तांबे पर चांदी का झोल

एक साहूकार की दुकान में एक आदमी आया। उसने एक पैसे का गुड़ लेना चाहा। सेठ ने पैसा ले, उसे गुड़ दे दिया। उसने सोचा–प्रारंभ अच्छा हुआ है, पहले-पहल तांबे का पैसा मिला।

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, २९८

दूसरे दिन वह चांदी के रुपये को भुनाने को आया। साहूकार ने वह ले लिया और उसको रेजगारी दे दी। साहूकार ने आरंभ को शुभ माना।

तीसरे दिन वह खोटा रुपया भुनाने को आया। साहूकार ने उसे लेकर देखा तो वह खोटा रुपया था—नीचे तांबा और ऊपर चांदी का झोल था।

साहूकार ने रुपये को नीचे डालते हुए कहा—आज तो बहुत बुरा हुआ। सूर्योदय होते-होते खोटे रुपये के दर्शन हुए हैं।

ग्राहक बोला— सेठजी! नाराज क्यों होते हैं? परसों मैं तांबे का पैसा लाया था, तब आप बहुत प्रसन्न हुए और उसकी वंदना की। कल मैं चांदी का रुपया लाया था, तब भी आप प्रसन्न हुए और उसकी वंदना की। आज मैं जो रुपया लाया हूं, उसमें तांबा और चांदी दोनों हैं। आज तो आपको अधिक प्रसन्न होना चाहिए, इसको दो बार वंदना करनी चाहिए।

साहूकार ने झल्लाते हुए कहा—मूर्ख! परसों तू पैसा लाया, वह कोरे तांबे का था, इसलिए खुश था। कल रुपया लाया, वह कोरी चांदी का था, इसलिए वह भी खरा था। आज तू जो लाया है, वह न कोरा तांबा है और न कोरी चांदी। यह तो धोखा है। नीचे तांबा है और ऊपर चांदी का पानी चढ़ाया हुआ है, इसलिए यह खोटा है।

गृहस्थ पैसे के समान है। साधु रुपये के समान है। साधु का वेश धारण करने वाला उस खोटे रुपये के समान है, जो न कोरा तांबा है और न कोरी चांदी है। गृहस्थ मोक्ष की आराधना कर सकता है, साधु मोक्ष की आराधना करता है, पर केवल वेशधारी मोक्ष की आराधना नहीं कर सकता।[१]

अपने रूप में सब वस्तुएं शुद्ध होती हैं। अशुद्ध वह होती है, जिसका अपना रूप कुछ दूसरा हो और वह दीखे दूसरे रूप में। यह अंदर और बाहर का भेद जनता को भुलावे में डालता है, इसीलिए मनुष्य को पारखी बनने की आवश्यकता हुई।

परीक्षा के लिए शरीर-बल अपेक्षित नहीं है। वह बुद्धि-बल से होती है। शरीर-बल जहां काम नहीं देता, वहां बुद्धि-बल सफल हो जाता है।

15. बुद्धि का बल

एक जाट ने ज्वार की खेती की। फसल पक गई थी। एक रात को चार चोर खेत में घुसे। ज्वार के भुट्टों को तोड़ चार गट्ठर बांध लिए। इतने में जाट आ

१. भिक्खु दृष्टान्त : २९५

गया और उसने सारा करतब देख लिया। वह उनके पास आया और हंसते हुए पूछा—भाई साहब! आप किस जाति के होते हैं?

उनमें से एक ने कहा—मैं राजपूत हूं। दूसरा—मैं साहूकार हूं। तीसरा—मैं ब्राह्मण हूं। चौथा—मैं जाट हूं।

जाट ने राजपूत से कहा—आप मेरे स्वामी हैं, इसलिए कोई बात नहीं, जो लिया सो ठीक है। साहूकार ऋण देता है, इसलिए उसने लिया, वह भी ठीक है। ब्राह्मण ने लिया, उसे मैं दक्षिणा मान लूंगा, पर यह जाट किस न्याय से लेगा? चल, तुझे अपनी मां से उलाहना दिलाऊंगा। उसका हाथ पकड़ ले गया और उसी की पगड़ी से कसकर उसे एक पेड़ के तने से बांध दिया।

वह फिर आकर बोला—मेरी मां ने कहा है—राजपूत हमारा स्वामी है, साहूकार ऋण देता है, इसलिए ये लेते हैं वह न्याय, पर ब्राह्मण किस न्याय से लेगा? वह तो दिए बिना लेता नहीं। चल मेरी मां के पास। वह उसे भी ले गया और उसी प्रकार दूसरे पेड़ के तने से बांध आया। उन्हीं पैरों लौट आया और बोला—मेरी मां ने कहा है—राजपूत हमारा स्वामी है, वह ले सो न्याय है, पर साहूकार ने हमें ऋण कब दिया था? चल, मेरी मां तुझे बुलाती है। उसको भी हाथ पकड़ कर ले गया और उसी भांति बांध आया। अब राजपूत की बारी थी। उसने आते ही कहा—ठाकुर साहब! जो स्वामी होते हैं, वे रक्षा करने को होते हैं या चोरी करने को? उसे भी ले गया और उसी भांति बांध दिया। चोरों को बांध थाने में गया और चारों को गिरफ्तार करवा दिया।[1]

बुद्धि से काम लिया, तब सफल हो गया। यदि वह शरीर-बल से काम लेता तो स्वयं पिट जाता और अनाज भी चला जाता।

16. विवेक शक्ति

परीक्षा—शक्ति नहीं होती, तब तक सब समान होते हैं। सब समान हों, किसी के प्रति राग-द्वेष न हो, यह अच्छा ही है, पर ज्ञान की कमी के कारण सब समान हों, यह अच्छा नहीं है। आचार्य भिक्षु 'विवेक' को बहुत्त महत्त्व देते थे। अविवेकी के लिए कांच और रत्न समान होते हैं। जब विवेक जागता है, तब कांच कांच हो जाता है और रत्न रत्न।

दो भाई रत्नों का व्यापार करते थे। एक दिन बड़ा भाई अकस्मात् संसार से चल बसा। पीछे वह पत्नी और एक पुत्र को छोड़ गया। एक दिन उसकी मां

१. भिक्खु दृष्टान्त : ११७

ने कहा—बेटा, जाओ! यह पोटली अपने चाचा के पास ले जाओ। रुपयों की जरूरत है, इसलिए कह देना—ये रत्न बेच दें।

लड़का दौड़ा। रत्नों की पोटली चाचा को सौंप दी और मां ने जो कहा, वह सुना दिया। चाचा ने उसे खोलकर देखा तो सारे रत्न नकली थे। उसने पोटली को बांध उसे उसी क्षण लौटा दिया और कहला दिया कि अभी रत्नों के भाव मंदे हैं, जब तेज होंगे, तब बेचेंगे। चाचा ने उस बच्चे को रत्नों की परख का काम सिखाना शुरू किया। थोड़े समय में ही वह इस कला में निपुण हो गया।

एक दिन चाचा ने उसके घर आकर कहा—बेटा! रत्नों के भाव तेज हैं, वे रत्न बेचने हों तो अपनी मां से कह दो।

वह पोटली लाई। बेटे ने तत्परता से उसे खोला। देखते ही उन रत्नों को फेंक दिया। मां देखती रही। उसके लिए वे रत्न थे, किंतु उसके पुत्र के लिए, जो रत्नों का पारखी बन चुका था, अब वे रत्न नहीं रहे।[१]

17. उछाला पत्थर तो गिरेगा ही

किसी ने पूछा—गुरुदेव! साधुओं को असुख क्यों होता है, जबकि वे किसी को भी दुःख नहीं देते?

आचार्य भिक्षु ने कहा—जिसने पत्थर उछालकर सिर नीचे किया है, उसके सिर पर वह गिरेगा ही। आगे नहीं उछालेगा तो नहीं गिरेगा। पहले दुःख दिया है, वह तो भुगतना ही है। अब दुःख नहीं देते हैं तो आगे दुःख नहीं पाएंगे।[२]

विवेक का अर्थ है—पृथक्करण। भलाई और बुराई दो हैं। विवेक उन्हें बांट देता है। कोई आदमी आज भला है, पर वह पूर्व-संचित बुराई का फल भोगता है। प्रश्न हो सकता है—यह क्यों? इसका उत्तर यही है कि विश्व की व्यवस्था में विवेक है।

कोई आदमी आज बुरा है, पर वह पूर्व-संचित भलाई का फल भोगता है, तब संदेह होता है। उसके समाधान के लिए यह पर्याप्त है कि विश्व की व्यवस्था में विवेक है। उक्त संवाद में इसी ध्रुव-सत्य की व्याख्या है।

---

१. अणुकम्पा री चौपई, ७.१९

काच तणा देखी, मिणकला, अण समझा हो जांणे रतन अमोल।
ते निजर पड्यो सराफ री, कर दीधो हो त्यांरो कोड्यां मोल॥

२. भिक्खु दृष्टान्त, १२२

18. राग-द्वेष

ध्रुव-सत्य को पकड़ने में सबसे बड़ी बाधा है राग-द्वेषपूर्ण मनःस्थिति। आचार्य भिक्षु के अनुसार द्वेष की अपेक्षा राग अधिक बाधक है। किसी आदमी ने बच्चे के मुंह पर एक चपत लगाया। लोगों ने उसे उलाहना दिया।

किसी आदमी ने बच्चे को लड्डू दिया। लोगों ने उसे सराहा। द्वेष पर दृष्टि सीधी जाती है, राग पर नहीं जाती। द्वेष की अपेक्षा राग को छोड़ना कठिन है। द्वेष मिटाने पर भी राग रह जाता है। इसीलिए वीतराग कहा जाता है, वीतद्वेष नहीं।[१]

राग वस्तुओं का ही नहीं होता, विचारों का भी होता है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार-काम-राग, स्नेह-राग को थोड़े प्रयत्न से मिटाया जा सकता है, पर दृष्टि-राग विचारों के राग का उच्छेद करना बड़े-बड़े पुरुषों के लिए भी कठिन है। आचार्य भिक्षु को एक ऐसे ही रागी को कहना पड़ा—चर्चा चोर की भांति मत करो।

एक आदमी चर्चा करने आया। एक प्रश्न पूछा। वह पूरा हुआ ही नहीं कि दूसरा प्रश्न छेड़ दिया। दूसरे को छोड़ तीसरे में हाथ डाला। तब आचार्य भिक्षु ने कहा—चोर की भांति चर्चा मत करो।

खेत का स्वामी भुट्टों को श्रेणीबद्ध काटता है और चोर आ घुसे तो वे एक को कहीं से काटते हैं और दूसरा कहीं से। तुम खेत के स्वामी की तरह क्रमशः चलते चलो। एक-एक प्रश्न को पूरा करते जाओ। चोर की भांति चर्चा मत करो।[२]

19. विराम

प्रारंभ और विराम प्रत्येक वस्तु के दो पहलू हैं। मनुष्य की कोई कृति अनादि-अनंत नहीं होती।

विश्व अनादि—अनंत है। जिसका आदि न हो और अंत भी न हो, उसका मध्य कैसे हो?[३] मनुष्य की कृति की आदि भी होती है और अंत भी होता है, इसलिए उसका मध्य भी होता है।

---

१. भिक्खु दृष्टान्त, ६

२. भिक्खु दृष्टान्त, १३२

३. (क) नैवाग्रं नावरं यस्य, तस्य मध्यं कुतो भवेत्। (माध्यमिक कारिका ११/२)
(ख) जस्स नत्थि पुरा पच्छा, मज्झे तस्स कओ सिया। (आचारांग १/४/४)
(ग) आदावन्ते च यन्नास्ति, वर्तमानेऽपि तत्तथा। (माण्डूक्य कारिका २/६)

'भिक्षु विचार दर्शन' यह एक मनुष्य की कृति है। इसके आदि में एक महापुरुष के जीवन का परिचय है और इसके अंत में एक महापुरुष की सफलता की कहानी है तथा इसके मध्य में सफलता के साधन-सूत्रों का विस्तार है। आदि का महत्त्व होता है और अंत का उससे भी अधिक, पर ये दोनों संक्षिप्त होते हैं। लंबाई-चौड़ाई मध्य में होती है। सफलता जीवन में होती है, पर मृत्यु सबसे बड़ी सफलता है। जिसकी मृत्यु उत्कर्ष में न हो, आनंद की अनुभूति में न हो, उनके मध्य–जीवन की सफलता विफलता में परिणत हो जाती है।

आचार्य भिक्षु का सूत्र था– ज्योतिहीन जीवन भी श्रेय नहीं है और ज्योतिहीन मृत्यु भी श्रेय नहीं है। ज्योतिर्मय जीवन भी श्रेय है और ज्योतिर्मय मृत्यु भी श्रेय है। वीर-पत्नी विदुला ने अपने पुत्र से कहा–'बिछौने पर पड़े-पड़े सड़ने की अपेक्षा यदि तू एक क्षण भी अपने पराक्रम की ज्योति प्रकट करके मर जाएगा तो अच्छा होगा।'[१]

प्रमादपूर्ण जीवन और मृत्यु में क्या अंतर है? आचार्य भिक्षु रात्रिकालीन प्रवचन कर रहे थे। आसोजी नाम का श्रावक सामने बैठा-बैठा नींद ले रहा था। आपने कहा–'आसोजी! नींद लेते हो?' आसोजी बोले–'नहीं महाराज!' फिर नींद शुरू कर दी। आपने फिर कहा–'आसोजी, नींद लेते हो?' वही उत्तर मिला–'नहीं महाराज!' नींद में घूर्णित आदमी सच कब बोलता है? अनेक बार सजग करने पर भी आसोजी ने नकारात्मक उत्तर दिया। नींद फिर गहरी हुई और आपने कहा–'आसोजी! जीते हो?' उत्तर मिला–नहीं महाराज!'[२] इस उत्तर में कितनी सचाई है। आदमी प्रमादपूर्ण जीवन जीकर भी कब जीता है?

आचार्य भिक्षु ने अप्रमत्त जीवन जीया और उनका मरण भी अप्रमत्त दशा में हुआ। मध्य जीवन में भी वे अप्रमत्त रहे, इसलिए उनका आदि, मध्य और अंत ये तीनों ही ज्योतिर्मय हैं।

यह मेरी कृति उनके कुछेक ज्योतिकणों से आलोकित है। उनके प्रकाशपुंज जीवन और ज्योतिर्मय विचारों को शब्दों के संदर्भ में रखना सहज-सरल नहीं है। मैंने ऐसा यत्न करने का सोचा ही नहीं। परम श्रद्धेय आचार्यश्री तुलसी की अंत:प्रेरणा थी कि मैं महामना आचार्य भिक्षु के विचार-दर्शन पर कुछ लिखूं। उनके शुभाशीर्वाद का ही यह सुफल है कि मैं आचार्य भिक्षु के विचार-दर्शन की एक झांकी प्रस्तुत कर सका और तेरापंथ द्विशताब्दी के पुण्य अवसर पर उसके प्रवर्तक को मैं अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित कर सका।

---

१. मुहूर्त्तं ज्वलितं श्रेयो, न च धूमायितं चिरम्। (महाभारत, उद्योग पर्व १३२/१५)

२. भिक्खु दृष्टान्त, ४८

परिशिष्ट

टिप्पणियों में प्रयुक्त ग्रंथ-सूची

1. अंगुत्तर निकाय
2. अहिंसा
3. अहिंसा की शक्ति
4. आचारांग
5. आचार्य संत भीखणजी
6. आत्मकथा (भाग 4)
7. उत्तरपुराण
8. उत्तराध्ययन सूत्र (नेमिचन्द्रीय वृत्ति)
9. उपदेश-माला
10. एक सौ उनहत्तर बोल की हुंडी।
11. एक सौ इक्यासी बोल की हुंडी।
12. ओघ निर्युक्ति वृत्ति।
13. गीता
14. जंबूकुमार चरित
15. जिनाज्ञा रो चोढालियो
16. जैन साहित्य और इतिहास
17. जैन साहित्य संशोधन (खण्ड 3, अंक 4)
18. तत्त्वार्थ सूत्र
19. त्रिवर्णाचार
20. दर्शन-संग्रह (डॉ. दीवानचन्द्र)
21. दशवैकालिक
22. धम्मपद
23. धर्म रसिक
24. धर्मसागरकृत पट्टावली
25. धर्मोदय
26. नंदी सूत्र
27. निशीथ सूत्र चूर्णि
28. नीतिशास्त्र
29. भगवती सूत्र
30. भ्रमविध्वंसनम्
31. भारतीय संस्कृति और अहिंसा
32. भिक्खु-दृष्टांत
33. भिक्खु-ग्रंथ रत्नाकर (प्रथम खंड)
    अणुकंपा री चौपई
    आचार री चौपई
    जिनाग्या री चौपई
    नव पदारथ
    निन्वरी चौपई
    निन्व रास
    मिथ्यात्वी री करणी
    विरत इविरत री चौपई
    विनीत-अविनीत री चौपई
    श्रद्धा निर्णय री चौपई
    श्रावक नां बारे व्रत री चौपई

34. भिक्षु जश रसायण
35. मर्यादा मुक्तावली
36. मर्यादावली
37. महाभारत
38. मांडूक्य कारिका
39. माध्यमिक कारिका
40. मूलाचार
41. यंग इंडिया (भाग 1,3)
42. यजुर्वेद
43. युक्ति प्रबोध
44. राष्ट्रपिता
45. लिखत : 1832, 1841, 1845, 1850, 1852, 1859
46. विनोबा के विचार
47. विनोबा प्रवचन (मई 1959)
48. वीर सुनो मोरी विनती
49. बृहत्कल्प चूर्णि
50. व्यापक धर्म भावना
51. शतपदी
52. शिव महिम्मन स्तोत्र
53. शिशु हित शिक्षा
54. षट् प्राभृत मोक्ष प्राभृत टीका
55. संबोध प्रकरण
56. सर्वोदय का सिद्धांत
57. सांख्य तत्त्व
58. सूक्ति मुक्तावली
49. सूत्रकृतांग सूत्र
60. स्थानांग सूत्र
61. स्थानांग सूत्र वृत्ति
62. हिन्द स्वराज्य
63. हिन्दी नवजीवन (20 सितंबर, 1928)
64. हिन्दुस्तान (26 जून, 1959)